

समरथ



नवंबर-दिसंबर 2011 ♦ नई दिल्ली



अक्टूबर 1947-दिसंबर 2011

अदम गोंडवी : एक जैविक जनकवि

■ ईश मिश्र

“मेरी खुदारी ने अपना सर झुकाया दो जगह
वो कोई मज़लूम हो या साहिबे किरदार हो।”

साहित्यिक प्रतिष्ठानों और प्रतिष्ठित साहित्यकारों की उपेक्षा और अवमानना को धता बताते हुए, सिर्फ मज़लूम और साहिबे किरदार के सामने सर झुकाने वाले, गंवई किसान, जनपक्षीय चिंतक-कवि, अदम गोंडवी, अपनी अदम्य जनपक्षीय प्रतिबद्धता और साहस के साथ, मज़लूमों और मुफ़लिसों की पीड़ा और आक्रोश को शब्दों में पिरोकर जन-द्रोहिओं को बेनकाब करके जन-विद्रोह के आह्वान की कवितायें लिखते हुए खुदारी से जिए। अंतिम समय में मित्र-प्रशंसकों का उनके इलाज के लिए चंदे की अपील जारी करना उन्हें नागवार लगा और खुदारी के साथ उन्होंने किसी के प्रति बिना किसी कृतज्ञता-भाव और बिना किसी के शिकायत के जिन्दगी से विदा ले ली। जिन्दगी भर मीडिया और साहित्यकारों की नज़रों से ओझल रहे अदम, मरने के बाद सोसल नेटवर्किंग और मीडिया में विवाद के विषय बन गए। कुछ लोग, उनकी अराजक जीवन शैली और मयनोशी के बहाने उन पर आत्मघात का आरोप लगा रहे हैं। कुछ अन्य लोग उनके साथ हुई उपेक्षाओं और अन्याय का जिक्र करके, दया भाव से उन्हें संतों की कोटि में बिठाना चाहते हैं। काश अदम जी होते तो दो टूक जवाब देते खांटी गोंडवी अंदाज़ में।

“फटे कपड़ों में तन ढाँके गुज़रता हो जहाँ कोई
समझ लेना वो पगडंडी अदम के गाँव जाती है।”

घर में ठंडे चूल्हे पर अगर खाली पतीली है
बताओ कैसे लिख दूँ धूप फागुन की नशीली है।

और इन विद्वानों से कहते :



अदम गोंडवी

“मैंने अदब से हाथ उठाया सलाम को
समझा उन्होंने इससे है खतरा निज़ाम को।”

“गज़ल को ले चलो अब गाँव के दिलकश नज़ारों में
मुसलसल फ़न का दम घुटता है इन अदबी इदारों में।”

लेकिन वरिष्ठ लेखक-कवि मोहन श्रोत्रिय जैसे लोगों ने अदम की कविताओं की धार और प्रहार के पैनेपन के ही प्रसंग से एक तथ्यपरक मूल्यांकन के साथ श्रद्धांजलि दी है। “वह अकेले बहुतेरे कवियों से अधिक सार्थक और प्रेरक काम कर रहे थे। ...यह अनुल्लेखनीय नहीं है की उनकी रचनाएँ प्रतिष्ठानी समर्थन-अनुमोदन-प्रोत्साहन के बगैर लोकप्रिय हुई।” बोधिसत्व ने अदम को “नक्कालों की दुनिया में” “एक खुले मन का कवि” बताया। “उनमें ऐसी कई बातें थीं जो आज इंसानियत के अजूबघर में, कवि समाज के म्युजियम में भी नहीं मिलतीं।”

ऐसी असन्दिग्ध प्रतिबद्धता, इतनी संवेदनशीलता और

सम्प्रेषण की ऐसी पैनीधार वाले चिंतक/कवि/लेखक/कलाकार--
“संस्कृतिकर्मी”--“अराजक जीवन और असीम मदिरापान” के
“व्यसन” में क्यों डूबते हैं? इन उपदेशकों ने कभी सोचा कि
क्यों कोइ रूसो या गोरख पाण्डेय विक्षिप्त हो जाता है या
आत्महत्या कर लेता है? शोषण-दमन के विरुद्ध “बगावत”
की गुहार लगाने और “जनता को हक है कि हथियार उठा
ले” जैसा बेखौफ-बेबाक वक्तव्य देने वाला अदम गोंडवी क्यों
मदिरामय हो जाता है? शासक वर्ग विचारों के “खतरनाक”

असर को खत्म करने
के मकसद से
विचारक को ही खत्म
कर देता है, लेकिन
वह नहीं जानता कि
इससे वे विचार और
भी “खतरनाक” हो
जाते हैं। उसी तरह
कविता की धार के
पैनेपन से जूझने में
असमर्थ शासक वर्गों

के भोंपू मरणोपरांत कवि के निजी आचरण पर कीचड़
उछालना शुरू कर देते हैं, यह जाने बिना कि इससे कविता
की धार और तेज़ हो जायेगी। किसी ने सही कहा है :
“क्या सोच कर तुम मेरा कलम तोड़ रहे हो/इससे तो और
निखर जायेगी आवाज़”। अदम की कवितायें, उन्हीं के शब्दों
में, “बयान” हैं :

“एशियाई हुस्न की तस्वीर है मेरी गज़ल,
मशरिकी फ़न में नई तामीर है मेरी गज़ल
दूर तक फैले हुए सरयू के साहिल पे आम,
शोख लहरों की लिखी तहरीर है मेरी गज़ल।”

‘मदिरामय’ अराजक जीवन-शैली के अंतिम कुछ वर्षों में
भी अदम का कलम मौन नहीं रहा। पोस्ट-माडर्निज़म पर
प्रासंगिक टिप्पणी वाली कविता हाल की है।

“तुलसी इनके लिए विधर्मी, देरीदा को खास लिखेंगे।
इनके कुत्सित संबंधों से पाठक का क्या लेना-देना
लेकिन ये तो जिद पे अड़े हैं अपना भोग-विलास लिखेंगे।”

अदम की कविताओं का उनके उचित सन्दर्भ में मूल्यांकन,

साबित करेगा कि उनकी गणना पिछली और इस सदी के
महान जनकवियों में होनी चाहिए। राजनैतिक गज़लों की जो
परम्परा दुष्यंत ने शुरू की, अदम उसे एक नए मुकाम तक
ले गए। आकंठ भ्रष्टाचार में डूबे वर्तमान में अदम की
कवितायें और भी प्रासंगिक हैं। लेकिन साथ होने पर लगता
ही नहीं था कि पुरस्कारों और प्रतिष्ठानों से अछूते, मटमैले
कुरता-धोती-गमछा में गंवई किसान दिखने वाले, कुठ अपनी
और ज्यादा अपने समानधर्मी कवियों की कवितायें और

संस्मरण, सखा-भाव
और बाल-सुलभ
उत्सुकता से सुनाने
वाले, अदम गोंडवी
इतने बड़े आदमी थे।
“अदीबों की नयी
पीढ़ी से” धूमिल की
विरासत को करीने
से “संजो कर” रखने
की गुजारिश करने
वाले अदम जी,

नागार्जुन पर लिखी अपनी कविता बहुत चाव से सुनाते थे।
बिना प्रतिस्पर्धा के अपने समानधर्मी पूर्ववर्ती और समकालीन
कवियों के प्रति अतिशय सम्मान और उनकी विरासत को
आगे बढ़ाने की अदम की धुन उल्लेखनीय है। पिछले कई
सालों से बातचीत में वे अक्सर अपने को “सड़कछाप” कहा
करते थे। अदम जी सड़कछाप नहीं थे। वे आमजन के कवि
थे और उन्हीं के साथ सड़क के आदमी थे, साहित्य के
वातानुकूलित संग्रहालयों के नहीं। अदम सच मायने में एक
जैविक जनकवि थे।

ग्राम्सी ने लिखा है कि किसानों के पास अपना जैविक
बुद्धिजीवी नहीं होता। वह अन्य वर्गों को जैविक बुद्धिजीवी
प्रदान करता है लेकिन खुद के लिए नहीं। अदम गोंडवी
इसके अपवाद हैं। अदम अन्य दलित-दबे-कुचले वर्गों के
साथ कृषक वर्ग के भी बुद्धिजीवी हैं। सांप्रदायिकता और
जातिवाद के मुद्दों को भी वे वर्ग हित से जोड़कर देखते हैं
और वर्ग-शत्रु की इन विचारधाराओं पर भी प्रखर प्रहार करते
हैं :

“ये अमीरों से हमारी फ़ैसलाकुन जंग थी
फिर कहाँ से बीच में मस्जिद व मंदिर आ गए,

जिनके चेहरे पर लिखी है जेल की ऊंची फ़सील
रामनामी ओढ़ कर संसद के अंदर आ गए।”

“हिंदू या मुस्लिम के एहसास को मत छोड़िए
अपनी कुर्सी के लिए ज़ज्बात को मत छोड़िए,
छोड़िए इक जंग मिल-जुल कर ग़रीबी के खिलाफ़
दोस्त मेरे मज़हबी नग्मात को मत छोड़िए।”

“भूख के एहसास को शेरों सुखन तक ले चलो
या अदब को मुफ़लिसों की अंजुमन तक ले चलो।”

अदम जी 28 मार्च 2011 को हिंदी भवन में काव्य पाठ करने आये थे। मैंने तो कभी सोचा भी नहीं था कि अगले दिन अदम जी, हाल ही में वाणी प्रकाशन से प्रकाशित अपना संकलन, “समय से मुठभेड़” देने, मेरे घर आयेंगे। यहां अनुलेखनीय नहीं होगा कि पत्र-पत्रिकाओं, गोष्ठियों के माध्यम से अदम गोंडवी का जनपक्षीय कविकर्म लगभग चार दशकों से आम जन के मानस पटल पर दस्तक दे रहा था। कई क्रान्तिकारी सांस्कृतिक समूह उनकी कविताओं, गानों को न जाने कब से स्वर देते रहे हैं। याद नहीं है, सौ में सत्तर आदमी जब आज भी नाशाद है/दिल पे रख कर हाथ कहिए, देश क्या आजाद है और अन्य गज़लें हम कब से उद्धृत करते आ रहे हैं, लेकिन यह किसी प्रतिष्ठित प्रकाशन से छपा उनका पहला संकलन है और कुल दूसरा। पहला संकलन, धरती की सतह पर 1987-88 में उनके मित्र, वरिष्ठ कवि-लेखक, सुरेश सलिल के अथक प्रयास से छपा था। 29 मार्च 2011 की उस शाम नहीं लगा था कि अदम जी के साथ ‘आचमन’ और आत्मीय विचार-विमर्श में बीते 4-5 घंटे जीवन के अविस्मरणीय क्षण होंगे और दुबारा दुर्लभ। उसके बाद 14-16 अप्रैल को अदम जी का फिर दिल्ली आना हुआ और 3 दिन उनके साथ सत्संग का अवसर दुबारा मिला। उसका जिक्र आगे करूंगा। इन अंतिम दो मुलाकातों में उनके अन्दर एक अजीब सी बेचैनी दिखी जिसके बारे में वे कोई उपयुक्त शेर सुनाकर उसी तरह टाल जाते थे जैसे ‘संजीवनी’ पर निर्भरता के सवाल। उनकी शराब के लिए संजीवनी शब्द का प्रयोग उनके बेटे आलोक करते थे जो की इस यात्रा में उनके साथ थे क्योंकि अदम जी स्वास्थ्य कारणों से अकेले यात्रा नहीं कर सकते थे।

आधांत मदिरापान के बावजूद अदम की जबान भले ही लड़खड़ा जाए विचार और विश्लेषण की प्रखरता नहीं।

अदम जी न संत थे, न शराबी। गोंडा जिले के परसपुर-आटा गाँव में एक संपन्न ठाकुर परिवार में पैदा हुए, विरल काव्य-प्रतिभा से संपन्न, अद्भुत स्वाध्याय और व्यवस्था की समझ एवं अदम्य जनपक्षीय प्रतिबद्धता से ओत-प्रोत, चिन्तक-कवि, अदम गोंडवी एक असाधारण रूप से साधारण इंसान थे। उनकी साधारणता उनका बड़प्पन था। रूसो और अदम में काफी समानताएं हैं। दोनों ही कबीर की तरह ‘जो घर फूके अपनों चले हमारे साथ’ के दर्शन में विश्वास करते थे और दोनों ही 5वीं-7वीं तक पढ़े थे। रूसो के विचार में, सभ्यता मनुष्यों के अन्दर दोगलेपन का संचार करती है। सम्मान पाने के चक्कर में वह वैसा दिखना चाहता है जैसा होता नहीं। आपातकाल के बाद जैसा सुखद आश्चर्य जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में गंगा ढाबे पर बाबा (नागार्जुन) के साथ पहली बार चाय पीते हुए, उनसे अभिनय-भाव में “बीबी इंदिरा हो...” सुनने में हुआ था, वैसा ही मंडी हाउस में ढाबे पर चाय के साथ अदम गोंडवी से, “सौ में सत्तर आदमी जब आज भी नाशाद है/दिल पर रख कर हाथ कहिये देश क्या आजाद है/....” सुनकर। सलभ श्रीराम सिंह से “नफस-नफस कदम-कदम...” सुनकर भी ऐसी ही अनुभूति हुई थी। इन तीनों जनकवियों में और कई समानताओं के अलावा एक समानता यह थी कि तीनों ही सभ्यता के उपरोक्त गुण से वंचित थे।

सुनते हैं अदम कई बार बहुत ताम-झाम वाले आयोजनों के निमंत्रण अस्वीकार कर देते थे। लेकिन हिन्दू कॉलेज के रतनलाल ने जब 14 अप्रैल 2011 को बाबा साहब अंबेडकर के जन्मदिवस के छोटे से आयोजन में आमंत्रित किया तो उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। वह अदम जी के सार्वजनिक कविता पाठ के चंद अंतिम कार्यक्रमों में से एक था। उनके बेटे आलोक भी साथ थे। इतिहासकार डी.एन.झा की सदारत में भव्य कार्यक्रम हुआ। कुछ कवितायें उन्होंने पढ़ीं और कुछ मेरे समेत उनके प्रशंसकों-काली प्रसाद मौर्या, रविकांत और कृपाल ने। चमारों की गली पढ़ना तो अदम जी ने शुरू किया और खत्म किया काली प्रसाद मौर्या ने। अंतिम पंक्तियों तक पहुंचते-पहुंचते वाचक और श्रोता सभी के गले रुंध हो गए और आँखे अश्रुपूरित। ज़रा सोचिये, वर्णाश्रमी-सामंतवादी सांस्कृतिक परिवेश और सन्दर्भ में

पांचवीं-सातवीं तक पढ़े, पूर्वी उत्तर प्रदेश के एक पिछड़े इलाके के एक जन्मना ठाकुर युवक की, चमारों की गली में जाकर ज़िंदगी के ताप को महसूसने और एहसास कराने की; अन्त्यज, कोरी, पाशी की पीड़ा को आत्मसात कर धर्म के ठेकेदारों को उनकी दुर्दशा के लिए जिम्मेदार ठहराते हुए, चुनौती देने; और “समझदारों की दुनिया है विरोधाभास की” की भौतिकवादी समझ की काव्याभ्यक्ति तक की यात्रा कितने कठिन और दुरूह आत्म-मंथन, स्वाध्याय, स्वनिर्माण और संस्कारों से विद्रोह के आत्म-संघर्षों की यात्रा होगी? यह भी सोचिये कि जिसने आमजन के जैविक बुद्धिजीवी की भूमिका ईमानदारी से निभाने के प्रयासों की इतनी लंबी यात्रा बिना किसी प्रोत्साहन के, अभाव-उपेक्षा और अन्य प्रतिकूलताओं के बावजूद बिना उफ़ किये इतने साहस से तय की वह जीवन के अंतिम वर्षों में जीने के लिए मदिरा पर क्यों निर्भर हो जाता है?

अदम गोंडवी बनने से पहले उनका नाम रामनाथ सिंह था। और जब मौजूदा यथार्थ की क्रूर विसंगतियों को आत्मसात कर ‘दुस्साहसी’ ‘अभिव्यक्ति के खतरे’ उठाकर अदम गोंडवी बने और ‘चमारों की गली में’ ‘ज़िंदगी के ताप’ को महसूसने और एहसास कराने लगे, ठाकुरों की बस्ती में युयुत्सु बन गए। लेकिन अदम के क्रांतिकारी, जनपक्षीय सरोकार और एक न्यायपूर्ण समाज के सपने को साकार करने की ललक और प्रतिबद्धता अदम्य है। वे ललकार कर कहते हैं :

“ताला लगा के आप हमारी ज़बान को
कैदी न रख सकेंगे ज़ेहन के उड़ान को।”

और बिना लाग-लपेट के घोषणा करते हैं जो आज भी उतनी प्रासंगिक है जितनी तब तक रहेगी जब तक तथाकथित जनतांत्रिक व्यवस्था भूमंडलीय पूंजी की सेवा में जनता पर जुल्म ढाती रहेगी।

“पैसे से आप चाहें तो सरकार गिरा दें
संसद बदल गयी है यहाँ की नखास में।
जनता के पास एक ही चारा है बगावत
यह बात कह रहा हूँ होशो-हवास में।”

होशो हवास में बगावत का रास्ता दिखाने वाले अदम क्रान्ति की निरंतरता में यकीन करते थे और नई पीढ़ियों की समझ और उनमें बदलाव की ललक और क्रांतिकारी उमंगों

के प्रति काफी आशावादी थे।

“ये नई पीढ़ी पे निर्भर है वही जजमेंट दे
फ़लसफ़ा गांधी का मौजू है की नक्सलवाद है।”

और समतामूलक समाज के सपने को साकार करने का जिम्मा उसे ही सौंपते हैं :

“एक सपना है जिसे साकार करना है तुम्हें
झोपड़ी से राजपथ का रास्ता हमवार हो।”

अदम ठेठ गंवई अंदाज़ और तेवर के कवि थे और किसानों-दलितों के दुःख-दर्द के कारणों की पहचान और उनसे निजात पाने के रास्ते के अन्वेषण को समर्पित है अदम का कवि कर्म। उनकी कवितायें अपनी धार और शैली के पैनेपन के चलते शहरी मध्य वर्ग में भी लोकप्रिय हुईं, जैसा कि मोहन श्रोत्रिय ने सही कहा है यह उनकी अतिरिक्त उपलब्धि है। अदम के लिए जीवन का कोई ‘जीवनेतर उद्देश्य’ नहीं था। वे मानते थे एक ‘सार्थक’ जीवन जीना अपने आप में बहुत बड़ा उद्देश्य है। और एक जनपक्षीय कवि के रूप में आखिरी सांस तक अपने विचारों और कविकर्म से, तमाम तरह की प्रतिकूल परिस्थितियों और वंचना/उपेक्षा के बावजूद अपने पक्ष और प्रतिबद्धता पर अडिग रहते हुए, जीवन की सार्थकता साबित करते रहे।

इस लेख का उद्देश्य अदम गोंडवी की कविताओं का मूल्यांकन नहीं है जो की एक अलग बहस का मुद्दा है और यह बहस होनी ही चाहिए। न ही इसका उद्देश्य अदम के निजी जीवन को लेकर हो रही आलोचनाओं का जवाब देना है, उनकी रचनाएँ और पुरस्कारों/प्रतिष्ठानों से पारस्परिक वैमनस्यता का उनका सहज-सरल जीवन खुद जवाब हैं उनके। इसका उद्देश्य अदम के रचना-कर्म को उनकी हाल के दिनों की ‘अराजक जीवन शैली’ और ‘शराब की लत’ के निजी जीवन से पृथक कर के देखना भी नहीं है। ऐसा करना कर्मणा मार्क्सवादी, अदम के साथ अन्याय होगा। इसका उद्देश्य एक बड़े जनकवि को विनम्र श्रद्धांजलि देना है जिसने मजाज़, फ़ैज़, दुष्यंत, नागार्जुन, पाश, गोरख पाण्डेय जैसे जनकवियों की राजनैतिक कविताओं की परंपरा में एक नया आयाम जोड़ा। मैं इस कामना के साथ जनकवि अदम गोंडवी को श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ कि उनकी कवितायें उनके न रहने पर “खुदसरी की राह पर” चलने वाले रहनुमाओं की नींदे और हराम करें।

काल यात्रा जनसंहार से स्मृति संहार तक

भोपाल से अयोध्या

■ अंशु मालवीय

इतिहास एक कवि है!

इतिहास एक कवि है, असमाप्त करुण कविताओं का! तर्क उसकी भाषा है और संयोग उसके बिंब। तथ्यों, तारीखों और वर्णनों की नदियाँ रचता हुआ वह बीच-बीच में बिम्बों और प्रतीकों के तमाम द्वीप गढ़ता जाता है। बिखरे हुए इन तमाम बिंबों के बीच, जो ऊपर से असम्बद्ध दिखते हैं भीतर कहीं तार्किक सममिति पसरी रहती है, एक खामोश सानुनादिकता, एक अनबोला सा रिश्ता। बिंब गढ़ने का उसका तरीका उसे अपने परिवार के करीब ले जाता है-अपनी माँ स्मृति तक, अपने पिता अनुभव तक, अपनी बहन लोककथाओं तक और अपनी सहेली अनुभूति तक। अपने इसी बिंब विधान की मार्फत वह अपने को ठस होने से बचाता है, तरल बना रहता है, भिन्न व्याख्याओं की जगह बनी रहती है। वह अपने को उस सत्य की तरह बनाए रखता है जिसकी अकाट्यता अंतिम बार कभी परखी नहीं जा सकी।

हो सकता है सिर्फ इतिहास बिंब न रचता हो, बल्कि हमारे समझने और उसके बताने के बीच किसी 'नो मैन्स लैण्ड' पर यह बिंब रचे जाते हों। जब वास्तविक घटना को इतिहास और जनस्मृति मिलकर देख रहे हों उस वक्त ये चित्र गढ़े जाते हैं। और अक्सरहाँ ये चित्र उस घटना से ज़्यादा वास्तविक हो जाते हैं। जहाँ यूनियन कारबाइड फैक्ट्री की बाउण्ड्री के पास बसी झोपड़पट्टियों के करीब फुटपाथ पर खड़ी विलाप करती औरत और उसके पैरों से सटे भयभीत बच्चे की प्रतिमा एक ऐसे ही बिम्ब में बदल जाते हैं। आज से और कई दशकों बाद नई पीढ़ियाँ उस विलाप की हूक शायद ऐसी न महसूस कर सकें जैसी आज तक कर पाते हैं। हो सकता है खुद उन झोपड़पट्टी वालों के लिये यह प्रतिमा सार्वजनिक जगहों पर लगी अन्य प्रतिमाओं की तरह अपना अर्थ खो दे। लेकिन जब-जब कोई उस विलाप पर पड़ी वक्त की काई को खुरचेगा वह पुराने पड़ते जा रहे बिंब को नया कर देगा। इतिहास सिर्फ उनसे बात करता है जो

उससे बात करना चाहते हैं।

अलग-अलग बिम्बों की किस्मत भी अलग-अलग है, कुछ को उपेक्षा से मार दिया जाता है और कुछ को बार-बार जिलाया जाता है। इस मारने और जिलाने के तर्क भी अलग-अलग हैं। विलाप करती यह भोपाल की औरत धुंध में चली जाती है और बाबरी मस्जिद की ईंटों का बोझ हमारी छाती पर बढ़ता जाता है। एक जगह विरोध में मूर्ति गढ़ी जाती है, एक जगह इमारत गिराई जाती है। इस गढ़ने और उस ढहने के बीच क्या कोई रिश्ता है? जिसके बीच हमारे देश, हमारी सभ्यता और संस्कृति का कोई महत्वपूर्ण चित्र गढ़ा गया है? क्या इतिहास का कोई सांयोगिक तर्क इनके बीच काम कर रहा है या हमने ही रैन्डम सैम्पल के द्वारा दो प्रतीकों को चुन लिया है जिनके बीच अपनी बात बुनी जा सके। यानी क्या कहना है वह पहले से ही तय है और बिंबों का चुनाव सिर्फ एक सहूलियत है। तीन दिसम्बर की रात से छह दिसम्बर की दोपहर और बीच में गुजरते आठ साल। हमारे पास यही तीन उपकरण हैं और हमें कहानी बुननी है। यह हमें इतिहास ने ही सिखाया है। अकाल बिंबों की रचना और उसे काल में तैरा देना। हमारी इस रचना में कलम ही स्याही का रंग बदल सकता है... सुख... रक्त जैसा। तीन दिसम्बर भोपाल से लेकर छह दिसम्बर अयोध्या की काल यात्रा इसकी ध्वनि तुम्हें सुनायी पड़ती है क्या, ओ कालयात्री इतिहास!

हम तरक्की का मर्सिया गाएँगे!

नींद एक खतरनाक शह है। खासकर जाड़े की निःशब्द अंधेरी रातों में! क्योंकि जहरीली गैसों के पैर नहीं होते, उनकी आहट सुनायी नहीं देती और वे हमारे फेफड़ों में आकर चुपके से सो जाती हैं। खामोश और खतरनाक नींद। हमारे ख्वाब जो सांसों में जाग रहे थे...मर जाते हैं।

तरक्की उतनी ही खतरनाक शह है जितना पिछड़ापन

तब जबकि दोनों के केन्द्र में इन्सान न हो। इन्सान फैक्ट्री का पुरजा हो और उसकी मौत बाई-प्रोडक्ट। हुआ बस इतना था कि भोपाल में यूनियन कारबाईड नाम की एक बहुराष्ट्रीय कम्पनी की फैक्ट्री से मिथाइल आइसोसाइनाइड (मिक) नाम की गैस रिसी 2 और 3 दिसम्बर की रात। जिसके बारे में तुरन्त अमेरिका ने बताया था कि यह गैस 'नुकसानदेह' नहीं है। इसी मामूली गैस ने भोपाल की उस सर्द रात में नींद को मौत में बदल दिया। तमाम आंकड़ों में बहुत से अन्तर हैं। लेकिन इतना तय है कि पूरे शहर में खांसते-भागते, उल्टी करते लोगों का हुजूम बह निकला। अगले दिन तमाम सड़कों और गलियों में लाशें बिखरी हुई थीं। तीन हज़ार से ज़्यादा लोग मारे गये। पचास हज़ार के करीब लोग विकलांग हो गए और दो लाख लोग इसके किसी न किसी प्रकार के दुष्प्रभाव में आए। अभी 2006 में हुआ एक वैज्ञानिक अध्ययन यह आशंका व्यक्त करता है कि मिथाइल आइसोसाइनाइड के तमाम दुष्प्रभावों का अभी तक आकलन नहीं हुआ है और भविष्य अभी कई जेनेटिक बीमारियों से घिरा बैठा है।

इस बात के तमाम सबूत मिले हैं कि गैस रिसाव के खतरे की ओर पहले ही आगाह किया जा चुका था। लेकिन बहुराष्ट्रीय कंपनियां किस तरह से गरीब देशों में सुरक्षा मानकों की ओर से लापरवाह रहती हैं यह भोपाल ने दुनिया को बता दिया। बहुराष्ट्रीय कंपनियों और तीसरी दुनिया के रिश्ते के साथ ही यह सामान्य मुद्दा भी है कि आम तौर पर मुनाफे को बढ़ाने और लागत को कम करने के लिए तमाम छोटी-बड़ी, देशी-विदेशी कंपनियां अपने कामगारों की जान दांव पर लगा देती हैं। इस बार इतना जरूर था कि फैक्ट्री के कामगार ही नहीं शहर की बड़ी आबादी भी दांव पर लगी थी और हुक्मरान श्यामला हिल्स के अपने बंगलों में सुख की नींद सो रहे थे। यह भी कोई बिंब है क्या! शहर के गली कूचों में, गहवरो में लोग सांस की तलाश में भटक रहे हैं और सुल्लान पहाड़ी के राजमहल में गुनगुने बिस्तर की गोद में हैं। बिंब इसी तरह से मिलते रहे तो शायद अंत में कहना पड़े 'इतिहास तुम एक जानलेवा मसखरे हो!'

यूनियन कारबाईड का अपने देश में भी सुरक्षा के लिए यही रवैया रहा है। इस कम्पनी पर 1930 में इसी लापरवाही से 700 मजदूरों की जान लेने का आरोप था। यह अमेरिकी इतिहास की सबसे भयानक औद्योगिक दुर्घटना थी। जिसमें यूनियन कारबाईड के लिए 'हॉक्स नेस्ट टनेल' में काम

करते हुए 700 मजदूर सिलकोसिस का शिकार हो गये थे। भोपाल संहार के पहले सितम्बर 1984 में विशेषज्ञों ने चेतावनी दी थी कि जिस तरह से मिक को इकट्ठा किया जा रहा है वह किसी हादसे का कारण बन सकता है लेकिन उस चेतावनी को नज़रअन्दाज़ कर दिया गया। स्वयं अमेरिका स्थित यूनियन कारबाईड के प्लांट में भोपाल संहार के ठीक आठ महीने बाद मिक गैस का रिसाव हुआ और सौ मजदूर इसकी वजह से गंभीर बीमार पड़े। तो ये गलती ही नहीं थी कि यूनियन कारबाईड ने चेतावनी नहीं सुनी बल्कि ये उसकी कार्यपद्धति का हिस्सा था।

कानूनों की कमी और झोल का फायदा उठाकर कारबाईड सिर्फ मुट्ठी भर मुआवज़ा देकर बच गई। यह मुआवज़ा भी इतने टुकड़ों में था कि भीख में बदलता गया। साल दर साल गैस पीड़ित और उनके साथी धरना, प्रदर्शन और आन्दोलन में लगे रहे हैं और कारबाईड का कर्ता-धर्ता एन्डरसन अपनी खाल पर बिना एक खरोंच लिये बचकर निकल गया। क्या उधम सिंहों की रसाई अब उन द्वीपों तक नहीं रही, सुना है कि अमेरिका के किसी द्वीप पर एन्डरसन रह रहा है।

इतिहास के किसी पुराने मलबूस पन्ने पर कुछ बिम्ब जैसे कलम से बिना कहे टपक गये हैं, स्याही के धब्बों जैसे। इन धब्बों पर भोपाल गैस पीड़ित महिला संघ की वर्कशॉप की उदासी है...लॉपियर के नन्हे से अस्पताल के खामोश बरामदों में बैठे मरीज और कार्यकर्ताओं की संजीदा पदचापें हैं...सोमदत्त की कय से लिथड़ी कवितायें हैं...रघु राय के फोटो की सामूहिक कब्रें हैं...हबीब तनवीर और लाल बहादुर वर्मा के नाटकों से गिर कर सम्हलते हुए किरदार हैं और इनके साथ हैं--मिशेल फूको का मुहावरा माफी के साथ उधार लें तो--बुल्डोज़र की भाषा में नया भोपाल रचते हुए 'वर्तमान के इतिहासकार'। क्या नया हुआ था भोपाल में... दुनिया के पैमाने पर इसमें सीखने के लिए क्या है...भारत के लिये क्या बदला। भारतीय राजनीति और अर्थव्यवस्था के स्वरूप में क्या परिवर्तन आया था जिसके प्रदर्शन के लिए भोपाल का मंच तैयार हुआ था और जहां घुटती हुई सांसों के बिंब रचे गये थे। इन बिंबों में क्या था जो जुड़ता है 1992-93 के देशव्यापी दंगों में झुलसते शहरों से। आइये अपनी कहानी के दूसरे बिंब की भी पपड़ियां खुरचते हैं।

मसखरे तलवार लेकर आ गये

सन् 1992, मेरे दोनों भाई तकरीबन हाँफते हुए घर पहुंचे...

उनकी मोपेड कारसेवकों के जुलूस में फंस गई थी...मैं दौड़ता हुआ नज़दीक के बाज़ार पहुंचा। मुख्य सड़क से 'जय श्री राम' का शोर करता हुआ जनसमुद्र बहा चला जा रहा था... बाढ़ के पानी सा गंदला और काई भरा। मेरी हिम्मत...सड़क तक जाने की नहीं हुई, सहमा सा सड़क से काफी दूर खड़ा रहा जुलूस को डर से ताकते हुए...मैं हिन्दू था पर मुसलमान की तरह महसूस करता हुआ वापस घर लौटा...।

मैं छह दिसम्बर 1992 को इलाहाबाद के पुराने हिस्से की तरफ था...कर्फ्यू लग चुका था लेकिन गली...मोहल्लों में चहलकदमी और सरगर्मी बनी हुई थी। मैंने बाबरी मस्जिद को 'कल्याणी देवी' मोहल्ले की एक पतली सी गली में ढहते देखा...हथौड़ों से, बम से...मिसाइल से-अफवाहें उस समय हमारी संस्कृति की सबसे लाक्षणिक विशेषता थी। बाद में मैंने वक्त का हिसाब किया ढहने के तकरीबन एक घंटा पहले, उस जाड़े और कर्फ्यू के इत्मीनान से भरी गली में बाबरी मस्जिद गिराई जा चुकी थी। घर से चबूतरों पे चाय आ रही थी, इस हाथ से उस हाथ त्रिशूल जैसे अखबार जा रहे थे, विजय का सहज बोध भिनक रहा था और हिन्दू राष्ट्र की स्थापना का शिला पूजन पत्थर की चटिया बिछी उस पुरानी सी गली में शुरू हो गया था। हमें कर्फ्यू वाले इलाके से निकलकर अपने घर जाना था जहां कर्फ्यू नहीं था। मोहल्ले में एक मौत हो गयी जिसकी शवयात्रा के लिये इजाजत मिली थी। हम उस शवयात्रा के साथ कर्फ्यू से बाहर निकले...किसकी शवयात्रा थी वह...भारत की तथाकथित बहुलतावादी संस्कृति की! दुनिया के सबसे बड़े लोकतंत्र की!! शायद वो 'भइया जी' का जनाजा था...वह मुसलमान फकीर जो इस गली के एक मकान में अक्सर आता था जिसके फूँके हुए गंगाजल में यहां के लोग शफा मानते थे... अच्छा था मर गया नाबीना फकीर हमारी बीनाई जाते उसने देखी नहीं।

आज 1990-92 की आवाज़ों, चित्रों और माहौल के बारे में सोचो तो चीज़ें ओवरलैप होने लगती हैं, एक शोर जहन पर तारी हो जाता है और भविष्य का सन्नाटा सुनाई देने लगता है-लंबी जीभ लपलपाते लाउडस्पीकर और उनसे टपकती लार जैसी साधियों की आवाज़ें - 'बाबर की औलाद', रथयात्राएँ...पहियों के तले रौंदी जाती संस्कृति, त्रिशूल की नोक से लिखे जाते अखबार, हारती हुई धर्म-निरपेक्षता का दामन छोड़कर भागते नाकाबिले यकीन लोग, सहयोगी प्रदेश सरकार और दुलमुल केन्द्र सरकार के बयान, नारे 'बड़ी खुशी

की बात है पुलिस हमारे साथ है' दीवार से पीठ सटाकर खड़े संस्कृति के दूसरे, इन सबके बीच प्रतिरोध की कमज़ोर आवाज़ें...। प्रतिरोध की इन आवाज़ों ने अपने लिए किराये पर कुछ दलाल आवाज़ें ले रखी थीं जो इनकी तरफ से बोलती रही थीं। वे पहले भी कई बार ऐसा कर चुके थे। वे अपना काम दूसरों को सौंपकर उनके पिछलगुआ बने रहे थे। उन्होंने लगातार यही रवैया अपनाया था और सांप्रदायिकता के खिलाफ लंबी, व्यापक लड़ाई के लिए अक्षम थे। उन्होंने सांप्रदायिकता को दंगों और मुखरता में जाना था...भीत पर नमी की तरह फिरकापरस्ती का खामोश प्रहार उनकी पकड़ से बाहर था। समाज में, राजनीति में फिरकापरस्ती की स्वीकार्यता बढ़ रही थी पंजाब में जहरबाद, दिल्ली, कानपुर, इंदौर में धुंआ होते सिख, शाहबानो की आवाज़ पर ताला डालना और बाबरी मस्जिद का ताला खुलना, रथयात्रा और अंधकार... फिर रोशनी... जगमगाते चेहरे लिये एक दूसरे को बधाई देते रथयात्री... टेलीविजन के पर्दों पर बार-बार तोड़ी जाती मस्जिद... ध्वंस के इस भाग के प्रायोजक थे...। हम तैयार नहीं थे... हमने सोचा था महात्मा गांधी के लहू ने उन्हें मात दे दी, हमने सोचा था नेहरू की सेकुलर विज्ञानवादी, प्रगतिवादी छवि ने उन्हें मात दे दी, हमने सोचा इन्दिरा गांधी की लोकप्रिय अपील ने उन्हें मात दे दी... हमने सोचा मुलायम सिंह का हज हाउस हमें बचा लेगा... हमने सोचा-हमने गलत सोचा-आपराधिक रूप से गलत। हम साल दर साल सबेरे जाते हुए हाफपैन्टों के पाँयचों की चौड़ाई पर हँसे-महेश अशक का शेर याद आता है-

मसखरे तलवार लेकर आ गये

हम हँसे हँसते ही धोखा खा गये।

अराज-राज

यहाँ औपचारिक वक्तव्य देना शायद ज़रूरी नहीं कि दिसम्बर 84 से दिसम्बर 92 के थोड़ा पहले और बाद तक वह प्रक्रिया चल रही है जिसे हम रेखांकित करना चाहते हैं और हमारा इरादा किसी तरह के काल विभाजन को स्थापित करने का नहीं है। इन दोनों तारीखों के बीच भारत की अर्थव्यवस्था और राजनीति में महत्वपूर्ण बदलाव आये, विशेषकर भारतीय राज्य का स्वरूप बदला और वह उस ओर बढ़ा जिसे नवउदारवादी नीति जगत कह सकते हैं और जिसे आमतौर पर अधूरे तरीके से समझा गया है-राज्य 'पैसिव' नहीं हुआ बल्कि 'डिफरेंटली एक्टिव' हो गया है एक

एक्टिविस्ट स्टेट। उसने अपनी भूमिका कम नहीं की बल्कि बदली है। राज्य चूंकि किन्ही विशिष्ट अन्तर्विरोधों की उपज है इसलिए उनके घर्षण की ज़रूरत के हिसाब से अपने को प्रकट करता है। राज्य की उपस्थिति और उसकी अभिव्यक्ति के बीच अक्सर अन्तर मिलता है। वह अपने को ज़रूरत के मुताबिक अभिव्यक्त करता है या अपनी अभिव्यक्ति के तरीके बदलता है। हमारा उपशीर्षक 'अराज-राज' उसके इस बदलाव की ओर संकेत करता है। भारतीय राज्य एक हस्तक्षेपी राज्य से उदारवादी राज्य की तरफ बढ़ता है लेकिन करीब से देखने पर पता चलता है कि इस दौरान 'नवउदारवाद' के किताबी उदाहरण के विपरीत वह नवउदारवाद की रूढ़िवादी लाइन नहीं स्वीकारता बल्कि हस्तक्षेप के ज्यादा जटिल रास्ते तलाश करता है। राज्य के हस्तक्षेप के इस महीन और जटिल हस्तक्षेपी स्वरूप को समझना बहुत ज़रूरी है वर्तमान समय में अर्थव्यवस्था की वृद्धि दर जिसकी वजह से संभव हुई है और राजनीति और समाज के महत्वपूर्ण बदलावों से जिसके अंतरंग संबंध हैं।

भारतीय अर्थव्यवस्था में बहुत से परिवर्तन जिन्हें 'नई आर्थिक नीति' या 1991 से जोड़कर देखते हैं उन सबका विकास हम इन्दिरा गांधी से राजीव गांधी के काल यानी तकरीबन पूरे अस्सी के दशक में देख सकते हैं। जिसमें शासन की राजनीति अपने समाजवादी अलंकारों को तजती है, पूंजीपति विरोधी लोकप्रिय शब्दावली का त्याग करती है, आर्थिक विकास को अपना मुख्य ध्येय घोषित करती है और अपनी तमाम नीतियों में परिवर्तन करती है। इस परिवर्तन में भारतीय बड़े पूंजीपति घराने राज्य के करीबी साझेदार बने और बहुत ही चयन के साथ, पैर पीछे हटाने और आगे बढ़ाने की ताल के साथ विदेशी पूंजी से ताल्लुकात बढ़ाये गये।

1980 के दशक में राज्य और अर्थव्यवस्था ने विकास का जो मॉडल अपनाया वह पहले से काफी भिन्न था। न केवल नेहरू के राजकीय और राष्ट्रीय मॉडल से भिन्न बल्कि 1970 की इन्दिरा गांधी के लोकप्रिय नारों से भी भिन्न। हालांकि उन्होंने अभी भी अपनी छवि 'गरीबी हटाओ' वाली बनाये रखने में काफी सफलता प्राप्त की लेकिन स्पष्ट था कि उन्होंने 'वितरणवादी न्याय' की जगह 'वृद्धि' को अपना लक्ष्य बना लिया था। उन्होंने भारतीय राज्य के साथ 'सर्वसत्ता' का एक अल्पकालिक प्रयोग किया था और जनता पार्टी के शासन के दौरान विकसित हुई आंतरिक अराजकता और आर्थिक ठहराव ने उन्हें अपनी राजनीति पर पुनर्विचार करने

के लिए बाध्य किया। राजनीति में लोकप्रियतावादी मुहावरों का युग बीतने लगा था। पूंजीपति की करीबी साझेदारी चाहिये थी ताकि अर्थव्यवस्था ठहराव से निकल सके और राज्य की सक्रिय भूमिका चाहिये थी ताकि नये विकास के मॉडल की रूपरेखा तैयार की जा सके। गरीबों का साथ तो पुराने लोकप्रियतावादी कामों या नारों की वजह से कांग्रेस के साथ था ही। राज्य की यह नई भूमिका इस बात का रोचक उदाहरण है कि भारत जैसा 'सॉफ्ट स्टेट' हस्तक्षेप की अपनी डिजाइन कैसे तैयार करता है और जो 1991 के बाद इतनी संश्लिष्ट हो जाती है कि बहुत से विश्लेषणकर्ता इसे अहस्तक्षेपकारी मानने लगते हैं।

भूमंडलीकरण के दौर में राष्ट्र राज्य की भूमिका भी अहस्तक्षेपकारी नहीं है बल्कि उसका हस्तक्षेप बहुत संश्लिष्ट हो गया है जिसे राष्ट्र राज्य के 'कमज़ोर' हो जाने के रूप में समझा जाता है।

आर्थिक वृद्धि को अपना लक्ष्य घोषित करने के साथ ही भारतीय राज्य ने भारतीय बड़े पूंजीपति के साथ नजदीकी एलायन्स कायम किया और उसके संकोच, हिचक और स्वार्थ के हिसाब से विदेशी पूंजी के साथ रिश्ते तय किये। 1980 में इंदिरा गांधी जब दुबारा सत्ता में आईं राज्य ने स्पष्ट रूप से मजदूर विरोधी और पूंजीपति हितकारी स्वरूप ग्रहण किया, सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों के विकास पर रोक लगाई गई, प्लानिंग कमीशन और प्लानिंग को सीमित किया गया। सरकारी नीतियों में 70 के दशक के प्रारंभ के वाम झुकाव जिस पर 'समाजवाद' की चाशनी चढ़ायी गयी थी, की जगह स्पष्ट रूप से दक्षिणपंथी रुझान स्पष्ट होने लगे। यह विकास क्रमबद्ध रूप से राजीव गांधी से लेकर जनता दल की अल्पमत सरकारों, भाजपा की सरकारों और वर्तमान सरकारों तक होता रहा है। ऐसा नहीं है कि 1991 में कुछ हुआ ही नहीं लेकिन जो हुआ वह रास्ता पहले ही अख्तियार किया जा चुका था और 1991 से खुलेपन की तमाम नीति लागू करने के बाद भी भारतीय पूंजीपति के कई तबके और राज्य भी इसमें अपना पक्ष बनाये हुए हैं और भारतीय राज्य ने नये हस्तक्षेप के रास्ते तलाशने शुरू किये हैं।

भारतीय राजनीति में यहीं से मुद्दों का अभाव शुरू हुआ। अधिसंख्य जनता जो गरीब और वंचित थी उसे संबोधित करने के लिए राजनीति के पास कोई नारा नहीं था। अस्सी के शुरुआती समय में मुद्दा विहीन राजनीति और सामाजिक क्षेत्र छूटा हुआ था जिसे संकीर्ण धार्मिक राजनीति

ने भरना शुरू किया। जनसंघ को इमरजेंसी के बाद सामाजिक और राजनीतिक स्वीकार्यता मिल चुकी थी जिसे भाजपा के नये रूप में भुनाने की जगह उसे क्रमशः मिलने लगी थी। मुद्दाविहीनता की इसी स्थिति में सेकुलर इंदिरा गांधी ने हिन्दुत्व और सिक्ख सांप्रदायिकता के साथ आंख मिचौली खेलनी शुरू की, जिसने पंजाब में आतंकवाद और दिल्ली और कानपुर जैसे शहरों में 84 के सिख विरोधी दंगों में अपना वीभत्स स्वरूप ग्रहण किया। 84 के सिख विरोधी दंगों में जिस तरह सरकारी पार्टी के लोगों ने भाग लिया और प्रशासन और सरकार ने उसे सक्रिय या निष्क्रिय समर्थन दिया उसने स्पष्ट कर दिया कि भारतीय राजनीति और संस्कृति के सामने गंभीर चुनौतियां दरपेश हैं। सदियों के सहजीवन के बाद भी विभिन्न संस्कृति खंडों के बीच वे संवादहीनताएं मौजूद हैं जिनका इस्तेमाल तात्कालिक राजनीतिक ज़रूरतों के लिए किया जा सकता है और जिसके दीर्घकालिक सामाजिक-सांस्कृतिक प्रभाव होंगे। भारतीय राज्य और भारतीय राजनीति के निर्णायक तौर से बदलने का यह दौर था जब सरकारी पार्टी और राज्य ने सरेआम एक धर्म के लोगों के गरदन में टायर डालकर जलाने को मंजूरी दे दी थी। जब बदलते हुए राज्य ने सक्रिय रूप से भोपाल गैस कांड के दोषियों को निकल जाने दिया था।

इधर श्रम कानूनों को बदल डालने की मांग उठने लगी थी। उधर शाहबानो के खिलाफ राज्य सक्रिय रूप से कट्टरपंथियों का 'एलाई' था और उसे दुरुस्त करने के लिए मस्जिद-जन्मभूमि का ताला खुलवा रहा था ताकि जिन्न को आज़ाद किया जा सके। स्पष्ट हो गया था कि राज्य के सेकुलर होने की अवधारणा कितनी नाकाफी है, जिस दिन राज्य पर विपरीत प्रभाव बढ़ेगा वह अपना चरित्र बदल देगा। सवाल राजनीति और राज्य के सेकुलर होने से ज़्यादा संस्कृति और समाज के सेकुलर होने का है और जिस पर हमारी प्रगति नाम मात्र को है। इस दृष्टि से देखें तो सेकुलरिज्म की, राष्ट्रीय परियोजना, जिसके सबसे बड़े प्रतीक नेहरू थे, पूरी तरह असफल हुई है और साथ ही असफल हुई है वाम-प्रगतिशील खेमे की वैज्ञानिक परियोजना।

इधर दलित-पिछड़ों के सामाजिक हस्तक्षेप की प्रतिक्रिया स्वरूप सांप्रदायिकता का रथ चल पड़ा था उधर भारतीय राज्य एक ऐसे संवेदनशील ढांचे में तब्दील हो गया जो हर सामाजिक उथल-पुथल में सक्रिय पक्षकार के रूप में भागीदारी करने लगा था। उसकी इस भूमिका ने भोपाल से अयोध्या

के बीच अपनी यात्रा का एक चरण पूरा किया। भोपाल पर भारतीय राज्य का रवैया पूरी तरह से जनविरोधी रहा और उसने अब तक की सबसे बड़ी औद्योगिक दुर्घटना को यह इजाजत दी कि वह उसके चेहरे से नकाब हटा सके। यहां से लेकर 1992 तक बहुत कुछ बदल चुका था। व्यवस्था बड़ी शिद्दत से देशी और विदेशी बड़े घरानों की एलाई होती गई। उसे गुड़गांव में होन्डा के कर्मचारियों की खाल खींचनी थी क्योंकि वे संगठन बनाने के संवैधानिक अधिकार का इस्तेमाल करना चाहते थे। उसे दादरी को छावनी बना देना था ताकि रिलायंस के हित में किसानों को बेदखल किया जा सके। भोपाल की यह यात्रा क्रमबद्ध रूप से अयोध्या पहुंची जहां राज्य सक्रिय रूप से कट्टरपंथियों का साथी था, उत्तर प्रदेश में मुखर रूप से, केन्द्र में निष्क्रिय रूप से। अयोध्या से राज्य की सक्रियता का संस्थानीकरण हुआ और वह गुजरात में तार्किक परिणति में पहुंचा, जहां राज्य ने फासीवाद का चेहरा अख्तियार किया और भारतीय समाज की 'वैष्णवता' की धज्जियां उड़ा दीं।

भोपाल ने विकास के वर्तमान मॉडल के सामने सवाल खड़ा किया। एक बड़ा सवाल जिसके कंधों पर भोपाल की लाशों का बोझ है और यह बोझ बढ़ता ही जाता है...कोयला खदानों में फंसकर मरते मजदूरों, लाठियों से बिछे गुड़गांव के मजदूर, भूख से मरते बच्चों और आत्महत्या करते किसान...। अयोध्या ने दूसरा सवाल खड़ा किया है, आधुनिक समय में, राजनीति-उद्योग-तकनीक और भूमंडलीकरण के बीच संस्कृतियों के संवाद का जिसे हम हल नहीं करते तो कोई दूसरा करेगा, शायद 'संस्कृतियों के संघर्ष' के रूप में जिसके बीच असमानता और सामाजिक अलगाव के तमाम प्रश्न अनसुलझे रह जाएंगे। ये दोनों सवाल ऐसे खड़े हैं हमारे सामने जो भविष्य को नष्ट करते हैं और इतिहास को भी... जनसंहार से स्मृति संहार तक।

मंटो का कान्सटेबिल

मैं मंटो की नन्ही कहानी 'स्याह हाशिए' के एक प्रश्नाकुल कान्सटेबिल की तरह महसूस करता हूं। जिसे यहां दुकान लूटी गई तो यहां खड़ा कर दिया गया, वहां डकैती हुई तो वहां खड़ा कर दिया गया, उधर दंगा हुआ तो उधर खड़ा कर दिया गया-आजिज़ आकर वह कहता है 'साहब अबकी वहां ड्यूटी लगाएं जहां वारदात होने वाली है'।

हमारी ड्यूटी कहां है इतिहास!

एक अनूठा सत्याग्रह

■ गिरिराज किशोर

कुछ घटनाएं महत्वपूर्ण होती हैं, पर सरकार और कई बार समाज भी उनका उतना संज्ञान नहीं लेता जितना लिया जाना चाहिए। अगर किसी घटना को नज़रअंदाज़ करने से काम चल सकता है तो लोग सोचते हैं कि चला लेना ज्यादा सुविधाजनक है। भले ही देश या समाज को कितना भी आघात क्यों न पहुंचे। मणिपुर हमारे देश के पूर्वोत्तर का महत्वपूर्ण प्रदेश है। जब मैं वहां गया था तो लगा कि असली वृंदावन यही है। वहां के शाही मंदिर में संभवतः सैकड़ों वर्ष पूर्व बर्मा के राजा द्वारा उपहार-स्वरूप दी गई कृष्ण की मूर्ति स्थापित है। वह नीले पत्थर से बनी है। वहां पर हर साल मेला लगता है। कहा जाता है कि मणिपुर के छोटे-बड़े सब लोग उसमें बहुतायत से सम्मिलित होते हैं। पहले तो राजा की तरफ से भोजन मिलता था। अब केवल प्रसाद मिलता है।

मणिपुर में वैष्णव महिलाएं-पुरुष जिस प्रकार तिलक लगा कर निकलते हैं वह वृंदावन से भी अधिक हृदय-ग्राह्य लगता है। कृष्ण-भक्ति का जो प्रवाह मणिपुरी नृत्य में देखने को मिलता है, वह लास्य और कहीं नहीं देखने को मिलता। मृदंग ताल नृत्य अद्भुत होता है। लेकिन इस संस्कृति को, जो उत्तर भारत से किसी भी हालत में कम नहीं, हम पूरे देश से जोड़ कर नहीं रख पा रहे। ऐसा क्यों है? इसके लिए कौन जिम्मेदार है? क्या हम सरहदी खतरों को नहीं समझ पा रहे हैं?

मुझे स्मरण है जब मैं लगभग दो दशक पहले कु. जगतसिंह (मंत्री) द्वारा आयोजित एक लेखकीय सम्मेलन में हिस्सा लेने मणिपुर गया था तो वहां के लोग इस बात से नाराज थे कि उनकी अस्मिता के प्रतीक कांगला फोर्ट में भारतीय सेना रह रही थी। उसको लेकर वहां बड़ा आक्रोश था। वे मानते थे कि भारतीय सेना को फोर्ट में रखना उनको अपमानित करना है। वैसे भी भारतीय सेना के व्यवहार से स्थानीय लोग बहुत क्षुब्ध थे। मैं जब वहां के तत्कालीन राज्यपाल से मिला तो उनसे इस भावनात्मक समस्या का हल निकालने के लिए निवेदन किया। वे स्वयं भी इस भावनात्मक समस्या से चिंतित थे। लेकिन कोई रास्ता नहीं निकल पा रहा था। लेकिन बाद में जब वहां के सिविल समाज का दबाव बढ़ा और आतंकवादी संगठन ने आतंक फैलाया तो सेना को उनकी अस्मिता के प्रतीक किले को खाली करना पड़ा। सरकारें पता नहीं क्यों तब जाकर

सक्रिय होती हैं जब पानी सिर से ऊपर निकलने लगता और असंतोष विद्रोह की शकल लेने लगता है। क्या उन्हें इसी बात का इंतजार रहता है?

मणिपुरी जनता और बाकी देश भी इरोम शर्मिला के ग्यारह साल से चल रहे आमरण अनशन को लेकर चिंतित है। इरोम एक कृत्रिम जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य हैं। अस्पताल उनका मजबूरी का घर बना हुआ है। संभवतः विश्व का यह सबसे लंबा अनशन है, जो किसी व्यक्ति--वह भी एक महिला--ने अपने लोगों के ऊपर हुए अत्याचार के विरोध में किया है। इरोम ने यह अनशन नवंबर 2000 में शुरू किया था जब मणिपुर के मलोम नगर में सेना ने सशस्त्र बल विशेषाधिकार कानून का सहारा लेकर दस लोगों को गोलियों की भेंट चढ़ा दिया था।

शर्मिला के अनशन ने मणिपुर को संसार की नज़र में ला दिया है। उस समय इरोम शर्मिला अट्ठाईस वर्ष की रही होंगी। अब वे चालीस साल के लगभग हैं। उन्हें लोग अब 'आयरन लेडी' के नाम से पुकारते हैं। अस्पताल में वे अपने संबंधियों और मित्रों की जगह सिपाहियों से घिरी रहती हैं। हर पंद्रह रोज में एंबुलेंस से इरोम को हाजिरी देने कचहरी जाना पड़ता है।

अगर उनसे कोई पूछता है कि क्या तुम अपना अनशन तोड़ने के लिए राजी हो तो वे बिना हिचके इनकार कर देती हैं, नहीं! उनकी नाक में ट्यूब लगी है जिसके ज़रिए उन्हें खाना दिया जाता है, कृत्रिम खाना। इसी वजह से अब उनका वजन, बताया जाता है, सैंतीस किलो रह गया है। ग्यारह साल में शायद वे सब खाद्य-पदार्थों का स्वाद भी भूल गई होंगी। यह कोई कम बड़ी तपस्या नहीं कि युवावस्था में जब सबसे अधिक खाने-पीने की ललक होती है, इरोम शर्मिला ने अपने लोगों के लिए उसे भी त्याग दिया।

कितने दिन तक वे इस अनशन को इसी तरह जिंएंगी इसकी किसे चिंता है? और क्यों हो? यह सबसे बड़ा तप है युवावस्था में, सारे आकर्षण छोड़ कर शरीर को काष्ठवत बना लेना और अपने मूल्यवान युवा जीवन के ग्यारह वर्ष अनशन करते हुए, नाक के ज़रिए कृत्रिम भोजन लेकर जीवित रहने के लिए बाध्य होना। यह देश जो अपने को करुणा का स्रोत कहते नहीं अघाता, एक महिला पर यह

अन्याय कैसे बर्दाश्त करता है?

इरोम शर्मिला, जैसा कि पहले भी कहा गया, अब उनतालीस वर्ष की हो चुकी हैं। अविवाहित हैं। ऐसा नहीं कि उनके मन में कोमल भावनाएं नहीं हैं। उन्होंने एक ब्रिटिश पत्रकार से अपनी इन भावनाओं को प्रकट किया है। ब्रिटेन के डेस्मंड कोटिनो से उनका पूरे एक वर्ष तक पत्र-व्यवहार रहा है। हालांकि वे केवल एक बार कोटिनो से मिली भी हैं, पिछले मार्च में। शर्मिला भी सामान्य जीवन जीना चाहती हैं। लेकिन अनशन तोड़ने की उनकी जो शर्त है वह पूरी होने की निकट भविष्य में कोई आशा नज़र नहीं आती। उनकी मांग है कि सुरक्षा बल विशेषाधिकार कानून को वापस लिया जाए।

भारत सरकार एक पूंजीपति की एअरलाइंस बचाने के लिए तो सक्रिय हो सकती है, पर ग्यारह साल से कारावास में अपने प्रदेश के नागरिकों की सुरक्षा के लिए मार्शल लॉ जैसे कानून को वापस लिए जाने की प्रतीक्षा में अनशन करने वाली वीरांगना से बात करने को तैयार नहीं। सुरक्षा बल विशेषाधिकार कानून को वापस लेने की मांग मणिपुर में ही नहीं, जम्मू-कश्मीर में भी उठ रही है। वहां के मुख्यमंत्री ने इस सवाल को उठाया है।

यह बहुत दुर्भाग्यपूर्ण है कि मणिपुर के सिविल समाज के लोग उनकी प्रेम-भावना को वितृष्णा से देखते हैं। उनका खयाल है कि प्रेम दोनों के बीच साजिश रोपा गया है। इस घटना से शायद मणिपुरवासियों के अहं को चोट पहुंची है। क्या शर्मिला को अपने निजी जीवन के बारे में कल्पनाएं संजोने और आकांक्षाएं रखने का कोई अधिकार नहीं है? खासतौर से जब वे यह कह चुकी हैं कि तब तक विवाह नहीं करेंगी जब तक यह काला कानून वापस नहीं होगा। यह इंतहा है कि जिस अखबार में शर्मिला के साक्षात्कार छपते हैं उसका मणिपुर में बहिष्कार किया जाता है।

आखिर कब तक सिविल समाज उनके साथ ऐसा कठोर व्यवहार करता रहेगा। क्या वे यह नहीं समझते कि इस आंदोलन को सबसे अधिक प्रतिष्ठा शर्मिला के अनशन ने दिलाई है। जम्मू-कश्मीर भी इस कानून को वापस लेने के लिए आवाज उठा रहा है, लेकिन वहां अभी तक कोई शर्मिला पैदा नहीं हुई। वहां के मुख्यमंत्री इस सवाल को उठा रहे हैं। अभी कुछ दिन पूर्व कश्मीर से 'शर्मिला बचाओ' यात्रा एक कश्मीरी सज्जन फैजल भाई के नेतृत्व में चल कर कई राज्यों से होकर मणिपुर गई। उसमें मध्यप्रदेश, पंजाब, गुजरात आदि प्रदेशों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए।

कश्मीर के कुछ ऐसे युवा कार्यकर्ता भी शामिल थे जिन्हें इस कानून के अंतर्गत उठा कर दो-तीन साल गिरफ्त में रखा गया था। स्वाभाविक है शर्मिला के अनशन की सहानुभूति लहर

कश्मीर तक पहुंची है। वह यात्रा कानपुर भी आई थी, उसकी बैठक हरिहर शास्त्री भवन में हुई। उसकी अध्यक्षता का अवसर मुझे दिया गया। गुजरात भी एक खामोश दमन का शिकार बताया जाता है। यह अच्छा संकेत नहीं है।

अभी सुरक्षा बल विशेषाधिकार कानून को हटाने की सुगबुगाहट भी नहीं है। ऐसा लगता है शर्मिला को अपने प्रण के अनुपालन में अपना अनशन पता नहीं कब तक जारी रखना पड़े। अगर ऐसा हुआ तो उनके जीवन के साथ उनका प्रेम भी बलि चढ़ जाएगा। गृहमंत्री का कहना है कि सरकार सशस्त्र बल विशेषाधिकार कानून के मामले पर एकमत नहीं है। सेना को अगर इस मामले पर निर्णय लेना है, तो कोई भी अपने दमनात्मक अधिकारों को जल्दी छोड़ने के लिए तैयार नहीं होता। खासतौर से जब कानूनन ये अधिकार प्राप्त हों। इन ग्यारह वर्षों के दौरान, जैसा कि पहले कहा गया, वे बहुत कमजोर हो गई हैं। स्नायु तंत्र भी प्रभावित हुआ है।

शर्मिला से कुछ मित्रों ने कहा कि सोनिया गांधी को सख्त शब्दों में पत्र लिखो, तो वे रोने लगी, 'मैं कुछ भी सख्त लिख कर किसी का दिल नहीं दुखाना चाहती। मैं जैसे जी रही हूं जी लूंगी।' वे मन से पूरी तरह गांधीवादी हैं। मनसा वाचा कर्मणा वे अहिंसा में विश्वास करती हैं। ऐसी स्त्री को इस हालत में कैद में रखना और उसके सपनों को शनैः शनैः तोड़ना कहां तक जायज है?

सरकार लोहे की जंजीर ही नहीं होती, उसका एक पक्ष संवेदनशीलता से भी जुड़ा होना चाहिए। जो सरकारें दमन के सहारे चलती हैं उनका हथ स्टालिन, मुसोलिनी और कज्जाफी जैसे तानाशाहों की तरह होता है। इस तरह के कानून अनंतकाल तक नहीं बने रह सकते। जब बदलाव आता है तो बड़ी-बड़ी चट्टानें ढह जाती हैं। अनशन की परंपरा और अहिंसा की पुकार के चलते ही आखिरकार इस तरह के कानून रद्दी की टोकरी में फेंक दिए जाते हैं। कानून संवेदना-विहीन ज़रूर होते हैं, पर उन्हें इंसानों की बेहतरी के लिए इस्तेमाल किया जाए तो समाज को जोड़ने के काम आते हैं। सहनशीलता और मौन आखिरकार इंसानों के पक्षधर बन कर सामने आते हैं।

मुझे बार-बार म्यांमा की सू की की याद आती है। वे बिना उफ़ किए गांधी की तरह हर दमन को अपने हिस्से की रोटी समझ कर हजम करती रही हैं। मणिपुरवासी यह भारतीय वीरांगना किसी भी हाल उनसे कम नहीं। ग्यारह वर्ष तक भूखे रह कर जेल की यातना सहना और अपने व्यक्तिगत सुखों को बिसार कर अपनी सांसों को समाज के नाम मौरूसी कर देना, उन्हें और भी ऊपर उठा देता है। हम जिस दुनिया में रह रहे हैं उसमें इस तरह के बलिदानों का कोई मूल्य नहीं?

साभार : जनसत्ता

रामकथा पर रार क्यों?

■ सुभाष गाताडे

शिक्षा संस्थान और सैनिक स्कूलों में क्या फरक होता है? शिक्षा संस्थान जहां उसमें दाखिला लेने वाले छात्रों में ज्ञान हासिल करने का जज्बा पैदा करते हैं, स्वतंत्र चिंतन के लिए उन्हें तैयार करते हैं, उनकी सृजनात्मकता को नए पंख लगाने में मुब्तिला होते हैं, वहीं सैनिक स्कूलों की कोशिश ऐसे इन्सान रूपी रोबोट यानी यंत्रमानव बनाने की होती है, जो सोचें नहीं, बस अपने सीनियरों के आदेशों पर अमल करने के लिए हर वक्त तैयार रहें। लाजिम है कि विचारद्रोही प्रवृत्तियां समाज में जब भी हावी होती हैं, हम यही पाते हैं कि वे शिक्षा संस्थानों और सैनिक स्कूलों के फरक को मिटा देना चाहती हैं। वे ऐसे माहौल को बनाना चाहती हैं कि ज्ञान हासिल करने की पहली सीढ़ी - हर चीज पर सन्देह करने की प्रवृत्ति - से शिक्षा संस्थान में तौबा किया जा सके और वहां आज्ञाकारी रोबो का ही निर्माण हो।

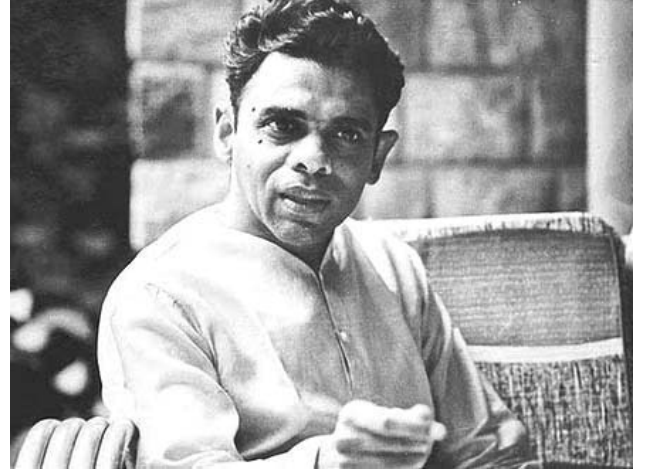
दिल्ली के अकादमिक जगत में इन दिनों जारी विवाद को लेकर यही कहने का मन करता है और इसका ताल्लुक कन्नड़ एवं अंग्रेजी भाषा के मशहूर कवि, नाटककार एवं विद्वान प्रोफेसर ए. के. रामानुजन (1929-1993) के उस चर्चित निबंध 'श्री हण्ड्रेड रामायणाज, फाइव एक्जाम्पल्स एण्ड थॉटस ऑन

ट्रान्सलेशन' यानी तीन सौ रामायणों, पाँच उदाहरण और अनुवादों पर तीन विचार, से है जिसमें दक्षिण एवं दक्षिण पूर्व एशिया में विद्यमान रामायण

कथाओं की विभिन्न प्रस्तुतियों की चर्चा की गयी है।

अपने अनुसन्धान में उन्होंने यह पाया था कि विगत 2,500 वर्षों में दक्षिण एवं दक्षिणपूर्व एशिया में रामायण की चर्चा तमाम अन्य भाषाओं, समूहों एवं इलाकों में होती आयी है।

मालूम हो कि अन्नामीज, बालीनीज, बंगाली, कम्बोडियाई,



प्रो. ए. के. रामानुजन

चीनी, गुजराती, जावानीज, कन्नड़, कश्मीरी, खोतानीज, लाओशियन, मलेशियन, मराठी, उड़िया, प्राकृत, संस्कृत, संथाली, सिंहली, तमिल, तेलगु, थाई, तिब्बती आदि विभिन्न भाषाओं में रामकथा अलग-अलग ढंग से सुनायी जाती रही है। उनके मुताबिक तमाम भाषाओं में रामकथा के एक से अधिक रूप मौजूद हैं। उन्होंने यह भी पाया था कि संस्कृत भाषा में भी 25 अलग-अलग रूपों में (महाकाव्य, काव्य, पुराण, पुरानी

दन्तकथात्मक कहानियां आदि) रामायण सुनायी जाती रही हैं।

वैसे यह बात सर्वविदित ही है कि दक्षिण एवं दक्षिण पूर्व के देशों में रामकथाओं का प्रभाव किसी न

किसी रूप में आज भी दृष्टिगोचर होता है। मिसाल के तौर पर इंडोनेशिया जैसे मुस्लिम बहुल मुल्क में सड़कें, बैंक, ट्रैवल एजेंसीज, या अन्य उद्यम मिलते हैं, जिनके नाम रामायण के पात्रों पर रखे गए हैं। लोकसंस्कृति में भी किस हद तक रामकथा का वजूद बना हुआ है, इसे एक उदाहरण से समझा जा सकता है।

इण्डोनेशिया में बच्चे के जनम पर 'मोचोपाट' नामक समारोह होता है। अगर परिवार हिन्दू है तो वह धार्मिक आयोजन कहलाता है और अगर परिवार गैर-हिन्दू है तो उसे संस्कृति के हिस्से के तौर पर आयोजित किया जाता है। 'मोचोपाट' में एक जानकार व्यक्ति लोगों के बीच बैठ कर रामायण के अंश सुनाता है, और फिर श्रोतागणों में उस पर बहस होती है। कभी-कभी यह आयोजन दिन भर चलता है। मकसद होता है, परिवार में जो नया सदस्य जनमा है, वह रामायण के अग्रणी पात्रों की तरह बने। आठवीं-नवीं सदी में इण्डोनेशिया में पहुंची रामायण कथा जावानीज भाषा में लिखी गयी थी।

सवाल यह उठता है कि एक सच्चे भारतीय के लिए-रामकथा के यह विभिन्न रूप, जिसने अलग-अलग समुदायों, समूहों में पहुंच कर अलग-अलग रूप धारण किए हैं- यह हकीकत किसी अपमान का सबब बननी चाहिए, या मुल्क की बहुसांस्कृतिकता, बहुभाषिकता, बहुविधता को 'सेलिब्रेट' करने का एक अवसर होना चाहिए।

साफ है कि ऐसे लोग, जो भारत की साझी विरासत की हकीकत को आज तक जजब नहीं कर पाए हैं और भारत का भविष्य अपने खास इकहरे एजेण्डा के तहत ढालना चाह रहे हैं, उन्हें रामायण के इन विभिन्न रूपों की मौजूदगी की बात को कबूल करना भी नागवार गुजर रहा है और इसलिए उन्होंने इसे आस्था के मसले के तौर पर प्रोजेक्ट करने की कोशिश की है।

मालूम हो कि विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग के अध्यापकों की अनुशांसा पर वर्ष 2006 में इस निबंध को पाठ्यक्रम में शामिल किया था। वर्ष 2008 में हिन्दुत्ववादी संगठनों की छात्र शाखा ने इसे लेकर विरोध प्रदर्शन किया। उनका कहना था कि इस निबंध को पाठ्यक्रम से हटा देना चाहिए। अन्ततः मामला उच्चतम न्यायालय पहुंचा तब उसके निर्देश पर चार सदस्यीय कमेटी बनायी गयी, जिसके बहुमत ने यह निर्णय दिया कि प्रस्तुत निबंध को छात्रों को पढ़ाया जाना चाहिए, सिर्फ कमेटी के एक सदस्य ने इसका विरोध किया।

मामला वहीं खत्म हो जाना चाहिए था, मगर जान-बूझकर इस मसले को अकादमिक कौन्सिल के सामने रखा गया, जहां बैठे बहुलांश ने अपने होंठों को सीले रखना ही मंजूर किया। फिलवक्त 'बहुमत' से इस निबंध को पाठ्यक्रम से हटा दिया गया है।

प्रस्तुत विवाद को लेकर प्रख्यात कन्नड साहित्यकार प्रो. यू. आर. अनन्तमूर्ति के विचार गौरतलब हैं "भारत में हमेशा

ही श्रुति, स्मृति और पुराणों में फरक किया जाता रहा है। अलग-अलग आस्थावानों के लिए अलग-अलग ढंग की श्रुतियां हैं, जो वेदों, पुराणों की तरह लगभग अपरिवर्तित रहती हैं। दूसरी तरफ स्मृति और पुराण गतिमान होते हैं और समय एवं संस्कृति के साथ बदलते हैं। भास जैसे महान कवियों ने महाभारत की समूची समस्या को बिना युद्ध के हल किया। यह बात विचित्र जान पड़ती है कि आधुनिक दौर में धार्मिक विश्वासों एवं आचारों का व्यवसायीकरण एवं विकृतिकरण किया जा रहा है। हमारे पुरखे आस्था, विश्वासों की जिस विविधता को सेलिब्रेट करते थे, उस सिलसिले को हम लोगों ने छोड़ दिया है।"

सवाल निश्चित ही महज एक निबंध का नहीं है। यह सोचने एवं तय करने की ज़रूरत है कि शिक्षा संस्थानों में पाठ्यक्रम तय करने का अधिकार अध्यापकों का अपना होगा या वहां दखलंदाजी करने की राज्य कारकों या गैर-राज्यकारकों को खुली छूट होगी। निबंध को लेकर खड़ा विवाद दरअसल इस बात का परिचायक है कि अकादमिक संस्थानों में विचारों के सैन्यीकरण का दौर लौट रहा है, जिस पर आस्था का मुलम्मा चढ़ाया जा रहा है। अभी ज्यादा दिन नहीं बीता जब शिवसेना के शोहदों ने मुंबई विश्वविद्यालय में पढ़ाये जा रहे रोहिण्टन मिस्त्री के उपन्यास 'सच ए लांग जर्नी' को हटाने में कामयाबी हासिल की थी, तो कुछ अन्य अतिवादी तत्वों ने सुप्रीम कोर्ट के आदेश के बावजूद जेम्स लेन की 'शिवाजी' पर प्रकाशित किताब पर सूबा महाराष्ट्र में अघोषित पाबन्दी लगा रखी है।

ऐसे सभी लोग, जो शिक्षा संस्थानों को खास ढंग से ढालना चाहते हैं, उन्हें इस वर्ष के नोबेल पुरस्कार विजेताओं पर निगाह डालनी चाहिए। इस वर्ष का रसायन का नोबेल इस्त्रायली मूल के डेनियल शेष्टमान को क्वासिक्रिस्टल्स की खोज को लेकर मिला है, जिसने पदार्थ की स्थापित धारणाओं को भी चुनौती दी है।

मालूम हो कि जब प्रोफेसर शेष्टमान ने पहली दफा यह संकल्पना रखी तो ऐसा वाहियात विचार रखने के लिए विश्वविद्यालय ने उन्हें रिसर्च ग्रुप छोड़ने के लिए कहा, मगर वह डटे रहे। सभी मानवीय ज्ञान क्या मानव की इसी अनोखी आदत से विकसित नहीं हुआ है- सभी चीजों पर सन्देह करो।

निश्चित ही शिक्षा संस्थानों को कुन्द जेहन रोबोट के निर्माण की फैक्टरी के तौर पर देखने वाले लोग इस सच्चाई को कैसे जान सकते हैं!

बाबू कुंअर सिंह तेगवा बहादुर

■ कुमार नरेंद्र सिंह

‘कुंअर सिंह एक ऐसा आदमी है, जिसने हमें 80 साल की अवस्था में एक पूर्ण पराजय का त्रासद घाव दिया, जिसने बेलगाम विद्रोहियों से ऐसी हुक्मबंददारी हासिल की जो विद्रोहियों ने किसी अन्य को नहीं दी, जिसने अपनी सेना का लखनऊ तक नेतृत्व किया और ऐसी लड़ाई लड़ी, जिसने अंत में भारत के भाग्य का फैसला किया। हम अंग्रेज काफी भाग्यशाली हैं कि कुंअर सिंह की उम्र 40 साल की नहीं है।’ उक्त कथन है उस अंग्रेज इतिहासकार का, जिसकी कलम में विद्रोहियों के प्रति सिर्फ नफरत ही भरी हुई थी। जॉर्ज ट्रिविलियन का यह उक्त कथन कुंअर सिंह की क्षमता और काबिलियत का सबसे बड़ा प्रमाण है।

दुनिया के इतिहास में कुंअर सिंह के अलावा कोई प्रमाण नहीं मिलता कि किसी ने 80 साल की अवस्था में इतनी जबर्दस्त लड़ाई लड़ी हो और अपनी औकात तथा सरजाम से कई गुना ज्यादा विजय पताका फहराई हो। बिहार में गदर के सरताज कुंअर सिंह शाहाबाद जिले (अब भोजपुर) की एक रियासत जगदीशपुर के जमींदार थे। बचपन से ही फक्कड़ और मनमौजी स्वभाव के कुंअर सिंह का ज्यादा समय शिकार खेलने और रासरंग में व्यतीत होता था। राजकाज से बेपरवाह और मनशोख होने के चलते भाइयों और पिता समेत पत्नी से भी ठनी ही रही। घुड़सवारी, तीरअंदाजी और पहलवानी उनका प्रिय शगल था। शरीर भी तो स्वभाव के अनुकूल ही मिला था। जनश्रुतियों के अनुसार कुंअर सिंह सात फिट लंबे थे।

बिहार में गदर का नेतृत्व कुंअर सिंह ने ही किया था।



वैसे प्रमाण तो यह भी मिलता है कि दानापुर के सिपाहियों की बगावत में उनकी अच्छी-खासी भूमिका रही थी। अगर कहा जाए तो एक तरह से कुंअर सिंह की प्रेरणा से ही दानापुर के सिपाहियों ने विद्रोह किया था। अंग्रेजों के खिलाफ युद्ध में उतरने से पहले कुंअर सिंह ने लड़ाई की पूरी योजना बनाई थी और देश भर के जमींदारों, राजे-रजवाड़ों को पाती भेजकर युद्ध में शामिल होने का न्योता भी दिया था। छोटे जमींदारों ने तो युद्ध में शामिल होने की हामी जरूर भरी, किंतु बिहार के किसी भी बड़े जमींदार ने उनका साथ नहीं दिया। दरभंगा, टेकारी और बेतिया की कौन कहे, एक ही खानदान के होने के बावजूद डुमरांव महाराज तक अंग्रेजों के खिलाफ खड़े नहीं हुए।

इतना ही नहीं, कुंअर सिंह के सगोत्रीय उज्जैन राजपूतों ने भी उनका साथ नहीं दिया। आज भी भोजपुर के उज्जैनिया राजपूतों के गांव में एक बहुत बड़ा तालाब है, जिसके बारे में वहां के लोग बताते हैं कि वह पोखरा कुंअर सिंह ने खुदवाया था और इसका उद्देश्य था उस गांव के सभी उज्जैनिया राजपूतों को मार कर उसी तालाब में भसा देना। बहरहाल, इसके बावजूद कुंअर सिंह ने अंग्रेजों से जबर्दस्त लोहा लिया और अंत तक पराजित नहीं हुए। जब सारा हिंदुस्तान अंग्रेजों के कब्जे में था तो कुंअर सिंह के नेतृत्व में जगदीशपुर आजाद था।

कुंअर सिंह कोई छोटे-मोटे जमींदार नहीं थे बल्कि उस समय डुमरांव महाराज से भी बड़े जमींदार थे। लेकिन उनकी

जमींदारी की स्थिति डावांडोल थी। इस्टेट आर्थिक बोझ से दबा हुआ था। सेना और सरजाम भी उनके पास कम थे। इसके अलावा उनके सर पर कर्ज का बोझ भी था। इन तमाम प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद उन्होंने इतनी लंबी लड़ाई लड़ी तो सिर्फ इसलिए कि स्थानीय जनता का उन्हें जबर्दस्त समर्थन हासिल था। अगर कहा जाए कि शाहाबाद के किसानों और कारीगरों के बल पर ही उन्होंने 80 साल की उम्र में अंग्रेजों को नाकों चने चबवा दिए, तो गलत न होगा।

दानापुर के सिपाहियों ने 25 जुलाई, 1857 को विद्रोह किया था लेकिन उससे पहले ही कुंअर सिंह को ज्ञात हो चुका था कि दानापुर के सिपाही विद्रोह करने वाले हैं। एक सिपाही ने चंद दिनों पहले ही बता दिया था कि सिपाहियों के बीच हल्दी बंट चुकी है और अब विद्रोह कभी भी हो सकता है। वैसे कुंअर सिंह युद्ध की तैयारी में पहले से ही जुट गए थे। उन्होंने अपनी सेना को पांच कमांड में विभाजित कर रखा था, जिनके नाम थे—राणा कमान, शिवा कमान, टीपू कमान, बजरंगी कमान और चंडी कमान। सेनापति हरे कृष्ण को बनाया गया था। इनकी पदवी थी—सलारे जंग। इसी तरह विभिन्न ब्रिगेडों के नाम स्थानीय गांव के नाम पर रखे गए थे। उदाहरण के लिए शाहपुर के थाना के सहजवली गांव के निवासी देवी ओझा को कारीसाथ डिवीजन की कमान सौंपी गई। बिहिया डिवीजन का कमांडर गया जिले के खमदनी गांव के वीर जीवधन सिंह को बनाया गया था। इसी तरह चौगाई डिवीजन के कमांडर शाहपुर के रणजीत अहीर थे। उसके अलावा अनेक गांवों के वीर अपनी छोटी-छोटी सैनिक टुकड़ियां लेकर कुंअर सिंह के नेतृत्व में अंग्रेजों के खिलाफ लड़ाई में कूदने को तैयार थे। सासाराम के बड़ी गांव के चौहान राजपूत गाजीपुर जिले के मेनदाई गांव के जमींदार जयनाथ, हेतमपुर के हरि सिंह, चातर के भंजन सिंह, बबुरा के रामेश्वर, बलुआं के तिलक सिंह, नवादा गांव के वीर द्वारिका, डेढ़गाई के रामनारायण, बेनी छपरा के सूबेदार रामधुन सिंह, सूबेदार देवकी दुबे, गाजीपुर के रणबहादुर सिंह, आयर गांव के शोभा सिंह और उनके पुत्र बाबू महादेव सिंह, दिलीपपुर के भोला बाबू के चार पुत्र, लक्ष्मी सिंह, काशी सिंह, आनंद सिंह, राधे सिंह, करबासिन गांव के साहबजादा सिंह, उगना गांव के रूपनारायण, कवंरा गांव के शिवपरसरन, डिलियां के श्यामबिहारी, झउवां के हरसु राय, गहमर के मेघन राय, जमानियां के इब्राहिम खां, पटना के डुमरी गांव के हुसैन मियां आदि कुंअर सिंह की अगुआई में

ब्रितानी हुकूमत के खिलाफ ईंट से ईंट बजाने को तैयार थे।

दानापुर की सातवीं, आठवीं और चालीसवीं पलटन ने 25 जुलाई को विद्रोह किया और कुंअर सिंह ने आरा शहर को अपने कब्जे में ले लिया। विद्रोहियों ने आरा के सरकारी खजाने से 70 हजार रुपये लूट लिए और जेल तोड़कर सभी कैदियों को आजाद करा लिया। कुंअर सिंह के मन में धर्मनिरपेक्षता का आग्रह कितना प्रबल था, इसका अंदाजा इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि कब्जे के बाद उन्होंने आरा शहर की कमान शेख मोहम्मद और शेख अफजल को सौंपी न कि किसी हिंदू को। अंग्रेजों ने आरा हाउस में छिपकर अपनी जान बचाई। आरा को मुक्त कराने के लिए कैप्टन इनवर दानापुर से 500 सैनिकों की एक फौज लेकर आरा रवाना हुआ। जब अंग्रेजी फौज आरा के नजदीक कायमनगर पहुंची तो कुंअर सिंह के सैनिकों ने उन पर हमला बोल दिया। जबर्दस्त लड़ाई हुई। इस लड़ाई में इनवर सहित उसके लगभग चार सौ सैनिक मारे गए और कुंअर सिंह की विजय हुई।

उधर अंग्रेजों की गोलंदाजी सेना का सेनापति कैप्टन आयर कलकत्ता से इलाहाबाद जा रहा था कि बक्सर में उसे खबर मिली कि कुंअर सिंह के नेतृत्व में विद्रोहियों ने आरा पर कब्जा कर लिया है। बस क्या था, वह वहीं से वापस मुड़ गया। उसके पास एक बड़ी फौज के अलावा तोपें भी थीं। गजराजगंज में कुंअर सिंह और अंग्रेजी फौज के बीच जमकर लड़ाई हुई। कुंअर सिंह ने सावधानी बरतते हुए मोर्चा छोड़ दिया, किसी और जगह मोर्चा जमाने के लिए। यह नया मोर्चा लगा बीबीगंज में। इस लड़ाई में भी कुंअर सिंह को नाकामी मिली। कैप्टन आयर ने जगदीशपुर में कुंअर सिंह के गढ़ को तोपों से ढहवा दिया और आग लगा दी। इसके बाद आरा शहर पर फिर से अंग्रेजों का अधिकार हो गया। लेकिन उनकी खुशी काफूर हो गई जब जल्दी ही कुंअर सिंह ने शहर सासाराम पर कब्जा कर लिया।

वहीं कुंअर सिंह को खबर मिली कि रामगढ़ में विद्रोह हो चुका है और विद्रोही उनसे मिलने आ रहे हैं। लेकिन दुर्भाग्य कि विद्रोही सेना चतरा में हार गई और कुंअर सिंह की मुराद अधूरी ही रह गयी। सासाराम की कमान अपने छोटे भाई अमर सिंह के हाथों देकर कुंअर सिंह ने सोन नदी को पार किया और मिर्जापुर के करीब विजयगढ़ में पड़ाव डाला। स्थानीय लोगों का वहां उन्हें जमकर समर्थन मिला। इसके बाद वे सिंगरोली पहुंचे और सहायता के लिए रीवां महाराज को गुहार लगाई। समर्थन देने के बदले रीवां महाराज

ने उन्हें अपनी सीमा में घुसने से मना कर दिया। कुंअर सिंह ने रीवां पर चढ़ाई कर दी। रीवां का कायर राजा राजधानी छोड़कर भाग चला, लेकिन रीवां के सिपाहियों ने कुंअर सिंह का साथ दिया। रीवां का रेजिडेंट कमांडर कर्नल हिंडे कुंअर सिंह का प्रतिरोध करने के लिए मैदान में आ जुटा, लेकिन वह बागी फौजों के सामने ज्यादा देर तक नहीं टिक सका। जान बचाने के लिए सर पर पैर रखकर भागा। रीवां के रेजिडेंट विल्लोवी ओसबर्नी को विद्रोही सिपाहियों ने पकड़ लिया, लेकिन कुंअर सिंह ने उसकी जान नहीं ली और उसे निरापद जाने दिया।

रीवां का शासन अली और राय के जिम्मे सौंपकर कुंअर सिंह स्वयं बांदा की तरफ बढ़े लेकिन बांदा के नवाब ने उनका साथ नहीं दिया। इसलिए उन्होंने कालपी के लिए कूच किया। पत्राचार द्वारा तय किया गया था कि नाना साहेब, तात्या टोपे और लक्ष्मीबाई के साथ मिलकर आगे की योजना वहीं बनाई जाएगी लेकिन उन तीनों को अंग्रेजी सेना ने रास्ते में ही घेर लिया। इस तरह यह बैठक नहीं हो सकी। कुंअर सिंह वहां से अपनी सेना लेकर निकलने ही वाले थे कि अंग्रेजों की तोपें आग बरसाने लगी। कुंअर सिंह की सेना भी अंग्रेजों से जूझ पड़ी। इसी लड़ाई में कुंअर सिंह का पोता दलभंजन सिंह मारा गया था। इसके बाद कुंअर सिंह ने अपनी सेना को कूच करने का आदेश दिया और वे कानपुर की ओर बढ़ चले। रास्ते में ग्वालियर की चालीसवीं पैदल सेना के बागी सिपाही कुंअर सिंह से आ मिले।

कानपुर के पास जहारनिशां में गुलाब सिंह का भतीजा बंदी था। कुंअर सिंह ने उसे आज़ाद कराया और लखनऊ पहुंचे। नवाब ने उनका दिल खोलकर स्वागत किया। बारह हजार रुपये देने के बाद नवाब ने कुंअर सिंह को आजमगढ़ पर शासन कायम करने का फर्मान भी दिया। कुंअर सिंह ने आजमगढ़ अपने कब्जे में ले लिया और भोजपुर लौटने की तैयारी में जुट गए। अंग्रेजों से लड़ते-भिड़ते और उन्हें छकाते कुंअर सिंह शिवपुर पहुंचे और वहीं गंगा पार करने का निश्चय किया। सरदारों और सिपाहियों की बार-बार विनती के बावजूद कुंअर सिंह ने पहले पार करने से मना कर दिया। पहले उन्होंने अपनी फौज को गंगा पार करने का आदेश दिया और स्वयं सबसे बाद में पार करने का निर्णय लिया। नाव की अंतिम खेप को रवाना करने के बाद कुंअर सिंह स्वयं एक हाथी पर सवार होकर गंगा पार करने लगे। तभी शिवपुर घाट के पश्चिम से डगलस और लुगार्ड के नेतृत्व में अंग्रेजी फौजें वहां पहुंच गयीं। कर्नल चौंवरलेन भी

मद्रासी घुड़सवार सेना लेकर वहां पहुंचा। लेकिन अब किया ही क्या जा सकता था। बाबू साहेब की फौज तो पहले ही गंगा पार कर चुकी थी और स्वयं भी वे आधी गंगा पार कर चुके थे। अंग्रेजी फौज गंगा पार कर रहे सिपाहियों पर गोली बरसाने लगे। सिपाही भी जवाबी गोलीबारी करने लगे। इसी गोलीबारी में एक गोली कुंअर सिंह की बायीं बांह में लगी और खून का फव्वारा फूट पड़ा।

बूढ़े बाज ने उस बांह को अपनी तलवार से एक ही वार में अपने तन से अलग कर दिया और मां गंगे को यह कहते हुए समर्पित कर दिया कि यह बांह अंग्रेजों की गोली लग जाने से अपवित्र हो गई है। हे मां, इसे तू ही अपनी पावन धारा से पवित्र कर। भोजपुरी प्रदेशों में गाए जाने वाले एक सोहर में इस घटना का बयान कुछ इस तरह किया गया है—लाख-लाख गोरवन के मारेलेन, त मारी के खदेरेलेन हो, ललना तनी एसा अंखिया बिछुली गइले, बंहियां में गोली खइले हो। गोलिया जे लागे जइसे फूल बरसे, हंसेलेन कुंअर सिंह हो, ललना सेहू बंहियां काटी तरुवरिया त गंगा में अरपी दिहले हो।

शाहाबाद के लोग तो कुंअर सिंह की प्रतीक्षा कर ही रहे थे। शाहाबाद की जनता और कुंअर सिंह के परस्पर संबंध का पता उस पत्र से चलता है जो आरा के इंजीनियर ब्यायल के पत्र से प्रकट होता है। उसने सरकार को लिखा था कि कुंअर सिंह की इच्छा शाहाबाद वापस आने की है। उसने अपनी यह इच्छा बड़े पैमाने पर जाहिर कर दी है।

22 अप्रैल, 1858 को कुंअर सिंह एक हजार सैनिकों के साथ जगदीशपुर लौटे। 23 अप्रैल को ली ग्रैंड के नेतृत्व में अंग्रेजी सेना ने कुंअर सिंह की सेना पर जंगल में आक्रमण किया। मेलीसन ने कुंअर सिंह की सेना के लिए लिखा है कि उसमें एक हजार पस्त आदमी थे, जिनके पास तोपें नहीं थीं और यहां तक कि किसी के पास ठीक तरह से हथियार भी नहीं थे। अंग्रेजों ने तोपों से गोलाबारी की और पैदल सैनिकों को हल्ला बोलकर आक्रमण करने का हुक्म दिया, लेकिन अंग्रेजों को लेने के देने पड़ गए।

गुरिल्ला युद्धशैली में पारंगत कुंअर सिंह की फौज ने ऐसी मार मचाई कि अंग्रेज उल्टे पांव भागे और तोपें छोड़कर उन्होंने आरा में आकर ही दम लिया। कैप्टन ली ग्रैंड सहित उसके दो अफसर और दो-तिहाई सेना खेत रही। हैरतअंगेज बात यह है कि अंग्रेजों को यह क्षति अप्रैल, 1858 में सहनी पड़ी, जब वे दिल्ली और लखनऊ पर अधिकार कर चुके थे। उन्हें यह मात उन सैनिकों ने दी थी, जो एक

लंबी यात्रा करके थके हुए थे, जिनका वृद्ध नेता घायल था। शाहाबाद के संघर्ष में जनता, सिपाहियों और उनके नेताओं ने भारत के अन्य स्थानों से सैनिक कार्रवाई को उच्चतम स्तर तक उठाया। उन्होंने अंग्रेजों को छावनियों और शहरों में बंद रहने पर मजबूर किया। अपनी पुस्तक वार ऑफ इंडियन इंडिपेंडेंस में सावरकर लिखते हैं—1857 में क्रांतिकारियों के जितने नेता थे, उनमें कोई ऐसा नहीं था जो सैनिक योग्यता में कुंअर सिंह से बढ़कर हो। स्वाधीनता संग्राम में छापामार लड़ाई की उपयोगिता क्या है, इस बात को तुरन्त भली प्रकार उन्होंने ही समझा था और वही अकेले ऐसे नेता थे जो शिवाजी जैसे सिद्ध छापेमार योद्धा की कुशल नीति का अनुसरण कर सके।

कुंअर सिंह महाराष्ट्र के महान सेनानी शिवाजी के समान अपनी सेना को कभी पस्त नहीं होने देते थे। उन्होंने स्वयं तथा अपने सैनिकों में पूर्ण विश्वास को जन्म दिया और इसी के चलते उनके सिपाही हमेशा उनके प्रति वफादार बने रहे। अपनी व्यक्तिगत वीरता, अनुशासन और साहस द्वारा वे हमेशा अपने सैनिकों के लिए प्रेरणास्रोत बने रहे। उन्होंने लड़ने और लड़ाई से बचने, दोनों छापामार लड़ाई के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों पक्षों में अनुपम कौशल का परिचय दिया और यही कारण है कि शत्रु को धूल चटाकर, अपनी गौरवपूर्ण विजय के बीच, स्वतंत्रता की पताका के नीचे अपने स्वाधीन सिंहासन पर बैठने के बाद इस वृद्ध वीर, महान भारतवासी को 26 अप्रैल, 1858 को गौरवपूर्ण मृत्यु प्राप्त हुई। कुंअर सिंह की रचनात्मक प्रतिभा, देशभक्ति, सूझबूझ और साहस का ही परिणाम था कि उन्होंने किसान जनता के आधार पर गांवों में स्वाधीन राजसत्ता संगठित की। 30 जुलाई, 1858 को पटना के कमिश्नर टेलर ने लिखा था—जगदीशपुर के पास विद्रोहियों का मुख्य दल अंग्रेजों की तरह कमिश्नर, जज, और मजिस्ट्रेट नियुक्त कर रहा है। वे नियमित रूप से अंग्रेजों के मित्रों की रियासतें बेच देते हैं। अंग्रेजों ने यहां के किसानों और सामंतों के विरुद्ध जो नीति अपनाई थी, उसी का अनुकरण करके विद्रोही सैनिकों ने अंग्रेजों के मित्रों को दंड दिया। कहने का अर्थ है कि कुंअर सिंह और जनता के बीच परस्पर विश्वास और भरोसे का अटूट बंधन कायम था और आज भी कायम है।

उनकी मृत्यु के बाद अंग्रेजी हुकूमत ने उनकी जमींदारी जब्त करके उसे नीलाम कर दिया और खरीददार बना अर्नेस्ट

मेलॉन नाम का एक अंग्रेज। लगभग 50 वर्षों बाद श्रीनिवास प्रसाद सिंह, जो जगदीशपुर जमींदारी के असली वारिश थे, ने फिर से अपनी जमींदारी खरीद ली। कुंअर सिंह के सैन्य-नेतृत्व की बढ़ाई मार्क्स और एंजिल जैसे विचारकों ने भी की है। 15 जून, 1858 को दी न्यूयॉर्क डेली ट्रिब्यून के लिए लिखे लेख में मार्क्स ने कुंअर सिंह को गुरिल्ला युद्ध का असली उस्ताद बताया है। एंजिल्स ने लिखा—कुंअर सिंह और अमर सिंह गुरिल्ला युद्धशैली के महारथी हैं। अमर सिंह के बारे में एंजिल्स कहता है—गुरिल्ला युद्धशैली में अमर सिंह का कोई सानी नहीं है। चुपचाप इंतजार करने के बदले उसे जहां मौका मिलता है, वह अंग्रेजों पर आक्रमण करता है।

शास्त्र और लोक दोनों ही कुंअर सिंह की वीरता और सैन्य कुशलता की प्रशंसा मुक्तकंठ से करते हैं। पूरा भोजपुरी लोक-साहित्य कुंअर सिंह की वीरता के गीत गाता है। बाबू कुंअर सिंह तेगवा बहादुर, बंगला में उड़ला अबीर, या बाबू कुंअर सिंह तोहरे राज बिनु हम ना रंगइबो केसरिया, या लिखी-लिखी पतिया पेटवले कुंअर सिंह सुन हो अमर सिंह भाई, जैसे होली गीत बिहार के हर गांव में आज भी गाए जाते हैं। भोजपुरी में कुंअर सिंह को लेकर अनेक रचनाएं लिखी गई हैं और गीतों का तो कहना ही क्या। ऐसे सैकड़ों गीत हैं, जिनमें कुंअर सिंह की बहादुरी और कीर्ति का बखान है। रामकवि ने कुंअर सिंह की लड़ाई पर क्या ही सुंदर रचना रची है :

जैसे मृगराज गजराजन के झुंडन पे
प्रबल प्रचंड सुंड खंडत उदंड हैं
जैसे बाजि लपकी लपेट के लवान दल
मली-मली डारत प्रचारत विहंड है।
कहे रामकवि जैसे गरुड गरब गही
अहिकुल दंड-दंड मेटत घमंड है
तैसे ही कुंअर सिंह कीरति अमर मंडी
फौज फिरंगानी की करी-करी खंड है।

भोजपुरी प्रदेश का कोना-कोना उनकी बहादुरी पर इतराता है, अगराता है। सचमुच जब दलानी में उनका यह ताव था तो उठानी में क्या रंग रहा होगा। इस संदर्भ में भोजपुरी इलाकों में एक कहावत कही जाती है कि जब अंग्रेजों से युद्ध ठना तो कुंअर सिंह हमेशा यही कहा करते थे कि—जो रे ससुरी गदर अइलिस त, बाकी बुद्धारी में नू। तनिक जवानी में आइल रहितिस।

फाँसी के तख्ते से जूलियस फूचिक

चेकोस्लोवाकिया का क्रांतिकारी

जूलियस फूचिक ने यह पुस्तक नात्सी जल्लाद के फन्दे की छाया में लिखी थी। इसकी पांडुलिपि के रूप से ही इसके लेखक के अदम्य साहस और अनोखी सूझबूझ का प्रमाण मिल जाता है। इसकी पांडुलिपि हैं कागज की स्लिपें जिन पर पैसिल से लिखा हुआ है। बाद में यही स्लिपें एक हमदर्द चेक सन्तरी की मदद से पांक्राट्स, प्राग, के गेस्टापो जेल से एक-एक करके चोरी-चोरी बाहर लायी गयीं। फूचिक, जिसे अपने आप से छल करना कतई मंजूर नहीं था, जानता था कि वह इस खतरों भरी किताब को समाप्त नहीं कर सकेगा। लेकिन तब भी उसका यह विश्वास अपनी जगह पर बिल्कुल ठूढ़ था कि उसके अपने देश के लाखों-करोड़ों लोग और दूसरे देशों के फासिस्त-विरोधी जन जल्द ही उसकी इस पुस्तक का उसके ही शब्दों में 'सुखद अंत' लिखेंगे।

...पिछले अंक से जारी

इतिहास का टुकड़ा

9 जून, 1943

मेरी कोठरी के सामने एक पेटी टँगी हैं। मेरी पेटी। इस बात का चिन्ह कि जल्दी ही मुझे भेजा जाएगा। कभी रात को वे मुझे राइख ले जायेंगे, मुकदमा चलाने के लिए-और फिर इसी तरह। मेरी ज़िन्दगी के आखिरी टुकड़े में से समय आखिरी कौर काट लेता है। पांक्राट्स के चार सौ ग्यारह दिन आश्चर्यजनक तेज़ी से बीत गये हैं। अब और कितने दिन बाकी हैं। कैसे दिन? और कहाँ बीतेंगे वे?

जो भी हो, और कहीं शायद ही मुझे लिखने का मौका मिले। इसलिए यह मेरी आखिरी गवाही है। इतिहास का एक टुकड़ा जिसका प्रत्यक्षतः मैं ही अकेला ज़िन्दा गवाह हूँ।

फरवरी 1941 में उन्होंने चेकोस्लोवाकिया की कम्युनिस्ट पार्टी की पूरी केन्द्रीय समिति को गिरफ्तार कर लिया-और उनसे एक सीढ़ी नीचे के तमाम नेताओं को जो हम लोगों के चले जाने पर मोर्चे की सँभाल करने वाले थे। यह कैसे हुआ कि एक ऐसा जबर्दस्त पहाड़ यों अचानक हमारे सिर पर टूट पड़ा, अभी तक इसका रहस्य पूरी तरह नहीं खुल सका है। शायद किसी दिन खुलेगा, जब गेस्टापो के कमीसार पकड़े जायेंगे और उन्हें बोलने के लिए मजबूर किया जाएगा। पेचेक बिल्डिंग के एक ट्रस्टी की हैसियत से मैंने इस भेद को पाने की बहुत कोशिश की लेकिन बेकार। इसमें निश्चय ही किसी जासूस का हाथ है, और हमारी तरफ की बेहद लापरवाही तो



है ही। दो साल तक सफलतापूर्वक छिपे-छिपे काम करने से साथियों की चौकसी जाती रही थी। हमारा गैरकानूनी संगठन हद से ज़्यादा फैल गया; नये कार्यकर्ता बराबर लिये जा रहे थे-बहुत से ऐसे भी जिन्हें रोके रखना चाहिए था जिसमें कि अगर कुछ होता तो वे पहली टोली की जगह ले सकते। सेलों का हमारा जाल इतना उलझ गया कि उस पर किसी तरह का नियंत्रण रखना असम्भव हो गया। हमारी पार्टी की केन्द्रीय समिति पर जो हमला हुआ, स्पष्ट ही, बहुत पहले से और बहुत अच्छी तरह

उसकी तैयारी की गयी थी और वह हुआ ठीक उस वक्त जब दुश्मन सोवियत संघ पर हमला करने जा रहा था।

पहले मुझे नहीं मालूम था कि हममें से कितने जाल में फँस गये। पहले की योजना के अनुसार मैं इस बात की प्रतीक्षा करता रहा कि अभी लोग मुझसे संपर्क कायम करने की कोशिश करेंगे, लेकिन वह प्रतीक्षा बेकार थी। एक महीने बाद यह बात बिल्कुल साफ थी कि कोई बहुत बड़ी घटना हो गयी है और मुझे सिर्फ इस बात की प्रतीक्षा करते नहीं बैठे रहना चाहिए कि बाहर का कोई आदमी मुझसे संपर्क कायम करेगा। लिहाज़ा मैंने भीतर ही संपर्कों की खोज शुरू की, और दूसरों ने भी यही खोज शुरू की।

पहला सदस्य जो मुझे मिला हॉन्ज़ा विसकोचिल था, मध्य बोहेमिया के इलाके का अध्यक्ष। उसमें पहल करने की शक्ति बहुत थी और अभी से उसके पास 'लाल अधिकार' का प्रकाशन पुनः जल्द से जल्द चालू करने के लिए कुछ सामग्री मौजूद थी जिसमें पार्टी

बिना पत्र की न हो जाये। मैंने मुख्य संपादकीय लिखा, लेकिन फिर हम इस निश्चय पर पहुँचे कि सब सामग्री जिसका बाकी हिस्सा मैंने नहीं देखा था, 'मई पत्र' के नाम से छपे, 'लाल अधिकार' के नाम से नहीं। दूसरी पार्टियों ने भी नियमित संस्करणों की जगह ऐसे ही जब-तब छपने वाले पत्र निकाले थे।

बाद के महीनों में कुछ छापामार कार्रवाई हुई। हमला जबर्दस्त था सही, चोट भी जबर्दस्त थी लेकिन उससे पार्टी मर नहीं सकती थी। सैंकड़ों नये काम करने वालों ने उन कामों को उठा लिया जिन्हें नेता अधूरा छोड़कर चले गये थे, खेत रहे थे। उनके ताज़े जोश और लगन की बदौलत पार्टी के बुनियादी संगठन में कोई गड़बड़ी नहीं आने पायी और न पस्तहिम्मती या निष्क्रियता ही घर करने पायी। लेकिन संचालन करने वाली केन्द्रीय शक्ति न थी और छापेमार दलों के काम में डर इस बात का था कि ठीक उस समय जब कि एक्यबद्ध, दृढ़, संगठित नेतृत्व की आवश्यकता होगी, उस वक्त यह नेतृत्व न मिलेगा-उस वक्त जब कि दुश्मन सोवियत रूस पर हमला करेगा।

मैंने 'लाल अधिकार' की एक प्रति में किसी अनुभवी राजनीतिक कार्यकर्ता का हाथ देखा। उसे किसी छापेमार सेल ने प्रकाशित किया था। मुझे कहते हुए अफसोस हो रहा है कि मई पत्र का हमारा एक अंक जो निकला था वह कुछ बहुत सफल न था; लेकिन दूसरों ने उसमें इस बात का प्रमाण तो पाया कि सहयोग करने के लिए और भी कोई है। लिहाज़ा हम दोनों दल एक दूसरे से संपर्क कायम करने की कोशिश में लग गये।

यह वैसा ही था जैसे कोई किसी को एक बहुत घने जंगल में ढूँढे। हमें एक आवाज़ सुनायी देती और हम उसकी तलाश में निकल जाते। तब ठीक आवाज़ बहुत धीमे से एक बिल्कुल दूसरी दिशा से आती सुनायी देती। हमको जो भीषण क्षति हुई थी उससे अब पार्टी में सब लोग अत्यंत सतर्क और खूब चौकन्ने थे कि कहीं किसी जाल में न जा फँसे। पहली केन्द्रीय समिति के दो सदस्य जो एक दूसरे को खोज रहे थे उन्हें बहुत से इन्तहान पास करने पड़े और बहुत-सी रुकावटें रास्ते से अलग करनी पड़ीं-जो सब उन लोगों की लगायी हुई थीं जिन पर उन्हें विश्वास था और जिन्होंने वह चीज़ इस बात का पक्का इत्मीनान करने के लिए की थी कि उनमें से कोई धोखा तो नहीं खेल रहा है। मेरे रास्ते में सबसे बड़ी अड़चन यह थी कि मैं नहीं जानता था मैं किसे ढूँढ रहा हूँ-और न वही जानता था कि केन्द्रीय समिति का कौन सदस्य उससे मिलने की कोशिश कर रहा है।

आखिरकार हमें एक आदमी मिला जो हम दोनों को जानता था और हम दोनों की गारंटी ले सकता था। वह एक बहुत अच्छा सा नौजवान आदमी था, डॉक्टर मिलोश नेडवेड, जो हमारा पहला संदेशवाहक बना। वह मुझे बिल्कुल अकस्मात् मिल गया। जून 1941 के दूसरे हफ्ते में मैं बीमार पड़ा और मैंने लिडा को डॉक्टर नेडवेड को ढूँढकर बाक्सा के घर लाने के लिए कहा जहाँ कि मैं छिपा

हुआ था। वह फौरन आया और हमारी बातचीत में उसने बहुत डरते-डरते मुझे बतलाया कि उससे उस आदमी का पता लगाने के लिए कहा गया है जिसने मई पत्र का यह सम्पादकीय लिखा था। उसे इस बात का सपने में भी गुमान न था कि वह आदमी मैं हूँ क्योंकि उधर के तमाम लोगों को इस बात का यकीन था कि मैं पकड़ा गया और शायद खत्म कर दिया गया।

हिटलर ने 22 जून 1941 को सोवियत रूस पर हमला किया उसी शाम हॉन्ज़ा विस्कोचिल और मैंने एक पर्चा निकाल कर बतलाया कि चेकोस्लोवाकिया के लिए उसका क्या मतलब है। 30 जून को आखिरकार मेरी मुलाकात उस आदमी से हुई जिसे मैं इतने दिनों से ढूँढ रहा था। वह मेरे दिये हुए पते पर आया क्योंकि वह जानता था कि वह किससे मिलने जा रहा है। मैं अब तक नहीं जानता था कि वह कौन है। ग्रीष्म की रात थी, हवा एकेशिया के फूलों की खूशबू से तर-सचमुच प्रेमी-प्रेमिका के अभिसार की रात। हममें से कोई बोले, इसके पहले हमने खिड़की पर पर्दा गिरा दिया। फिर मैंने रोशनी जलायी और हम दोनों गले मिले। वह हॉन्ज़ा जीका था।

फरवरी 1941 में पूरी केन्द्रीय समिति नहीं पकड़ी गयी थी। वह अकेला सदस्य अब भी बाकी था-जीका। यों तो मैं उसे बहुत दिनों से जानता था और बहुत चाहता था। लेकिन हम लोगों ने एक दूसरे को अच्छी तरह जाना अब जब संग काम शुरू किया। वह छोटा-सा, गोलमटोल आदमी था, सदा मुसकराता रहता, बहुत अच्छा मज़ाकिया आदमी लेकिन पार्टी के काम में बड़ा दृढ़वती, कठोर और क्षमाहीन। जो काम उसे करना है उसके सिवा वह कुछ न जानता न जानना चाहता। अपना कर्तव्य पूरा करने के लिए उसने अपने सारे सुख-ऐश्वर्य से मुँह मोड़ लिया था। वह जनता को प्यार करता था और जनता उसे प्यार करती थी। लेकिन किसी की गलती को आँख की ओट करके उसने कभी किसी को अपना नहीं बनाया।

कुछ ही मिनटों में हम लोगों ने बातें तय कर लीं। और कुछ ही दिनों में मेरी मुलाकात, नयी केन्द्रीय समिति के एक तीसरे आदमी से हुई जिसके संपर्क में जीका मई के महीने से था, हॉन्ज़ा चेर्नी। वह बहुत ही ज़ोरदार आदमी था, जनता की तरफ उसका रुख बहुत ही अच्छा था। वह स्पेन में लड़ा था, फिर युद्ध शुरू होने पर फेफड़े में घाव लिये नात्सी जर्मनी पार करके वह देश लौटा था। वह सदा एक सैनिक ही रहा-योग्य, अंडरग्राउंड काम का अच्छा तजुर्बेकार और हमेशा पहल करने वाला।

महीनों के कठिन संघर्ष ने हमको बहुत अच्छा कामरेड बना दिया। अपने स्वभाव और अपनी विशेष शिक्षा-दीक्षा से हम एक दूसरे के पूरक थे। जीका था संगठनकर्ता, यथार्थवादी, छोटी से छोटी बातों पर अड़ने वाला, इतना दृढ़ कि चिढ़ होती, और वह कभी लम्बी-चौड़ी बातों के जाल में न फँसता। वह हर रिपोर्ट की गहरी से गहरी छानबीन करता। जब तक कि उसका पूरा महत्व उसकी समझ में न आ जाता, हर प्रस्ताव को हर संभव दिशा से जाँचता और तब दल

के हर निर्णय को सहानुभूतिपूर्वक लेकिन दृढ़ता से पूरा करता।

चेर्नी के जिम्मे तोड़फोड़ और सशस्त्र विद्रोह की तैयारियों का काम था। वह फौजी भाषा में सोचता, उसकी आविष्कार-बुद्धि तेज थी, वह बहुत व्यापक रूप में, बड़े पैमाने पर योजना बनाता, अनथक परिश्रम करता और नये लोगों और नये साधनों की खोज में उसे सदा सफलता मिलती।

मैं था पत्रकार, राजनीतिक आंदोलनकारी, अपनी सूँघने की शक्ति पर विश्वास करने वाला। कभी कुछ विचित्र-सी बातें कहता, संतुलन और एकता पर बेहद ज़ोर देता।

हमने एक-एक के जिम्मे ये जो काम बाँटे थे, यह असल में जिम्मेदारियाँ बाँटी थीं, काम नहीं। सदा मिलना और सलाह-मशविरा करना कठिन था इसलिए स्वतंत्र कार्य या निश्चय करने की ज़रूरत पड़ने पर हम सभी एक दूसरे के विभाग का काम करते और उसका उत्तरदायित्व भी अपने ऊपर लेते। फरवरी के महीने में पार्टी पर जो हमला हुआ उसने हमारे सारे संपर्क-सूत्र छिन्न-भिन्न कर दिये, और उन्हें कभी पूरी तरह ठीक नहीं किया जा सका। किसी-किसी क्षेत्र में संगठन आमूल नष्ट कर दिया गया था; दूसरे तैयार हुए थे लेकिन उनसे संपर्क कायम करना नामुमकिन साबित हुआ। इसके पहले कि हम उनसे कोई संबंध स्थापित कर सकते, बहुत से कारखानों के सेल, कहीं-कहीं तमाम जिले और इलाके के संगठन, महीनों अलग-अलग कार्य करते रहे। हम ज़्यादा से ज़्यादा उम्मीद यह कर सकते थे कि हमारा केन्द्रीय मुखपत्र उन्हें मिलता रहे और वे उसमें बतायी हुई सामान्य नीति का पालन करते रहें।

काम करना कठिन था, जब कि हमारे पास रहने के लिए भी जगहें न थीं। अपनी पहले की जगहें हम काम में ला नहीं सकते थे क्योंकि इस बात का पूरा अंदेश था कि दुश्मन की उस पर हमेशा कड़ी निगाह रहती होगी। पहले हमारे पास पैसा न था और बिना राशन कार्ड के अनाज मिलना मुश्किल होता और राशन कार्ड लेने जाते तो हमारा सारा भेद ही खुल जाता। इन तमाम अड़चनों का सामना हमें उस वक्त करना पड़ा जब कि तैयारी करने और नये सिरे से ढाँचा खड़ा करने का वक्त बीत चुका था, जब कि हमें आगे बढ़कर लड़ाई में बाकायदा हिस्सा लेना था क्योंकि सोवियत रूस पर हमला हो चुका था।

दुश्मन से अन्दरूनी मोर्चे पर लड़ने का काम हमारा है, कारखानों में तोड़-फोड़ की छोटी-मोटी लड़ाइयाँ। केवल अपने बलबूते पर नहीं बल्कि जहाँ तक संभव हो समूचे चेक राष्ट्र की संगठन शक्ति से। 1939 से 41 तक के तैयारी के सालों में पार्टी छुपकर काम करती रही सिर्फ जर्मन पुलिस से ही नहीं बल्कि चेक राष्ट्र से भी। खूनी दमन के बावजूद पार्टी को दुश्मन के खिलाफ अपना संगठन मजबूत और सख्त बनाना था, उसमें से त्रुटियाँ दूर करनी थीं और उसके साथ ही साथ अपने देश वालों का विश्वास भी जीतना था। इसका मतलब था उन लोगों के पास जाना जो किसी पार्टी के न थे; जो भी आज़ादी के लिए लड़ने को पूरी तरह तैयार

हो उससे नाता जोड़ना, समूचे देश को संघर्ष के लिए आह्वान देना, और सीधे-सीधे उनसे बातचीत करना जो अब भी सकुचा रहे थे।

सितंबर 1941 के आरंभ तक हम यह तो नहीं कह सकते थे कि हमने अपना टूटा हुआ संगठन फिर से खड़ा कर लिया है लेकिन हम यह ज़रूर कह सकते थे कि अब हमारे पास एक मजबूत अच्छी तरह संगठित कार्यकर्ताओं की एक टोली थी जो बड़े-बड़े काम उठा सकने की क्षमता अपने में रखती थी। अब पार्टी के प्रचार आंदोलनों की ओर लोगों का ध्यान खिंचने लगा। तोड़-फोड़ भी बढ़ा, सभी जगह कारखानों में हड़तालें हो रही थीं। सितंबर के अन्त में उन लोगों ने हेड्रिक को हमारे पीछे लगाया।

मार्शल लॉ का पहला दौर हमारे उत्तरोत्तर क्रियाशील होते हुए प्रतिरोध को नहीं तोड़ सका। हाँ, उसने उसकी गति को ज़रूर कम कर दिया और पार्टी को नये घाव लगाये। सब से गहरा धक्का प्राग जिले को और युवकों के संगठन को लगा था। हमारे और कई नेता खेत रहे, जो पार्टी के लिये इतने कीमती थे-जान क्रेची, श्टानज़ल, मिलोश क्रास्नी और बहुत से और।

लेकिन यह तो हर चोट के बाद पता चलता था कि पार्टी कैसी अमर है। कोई कार्यकर्ता अगर मारा जाता तो लगने को चाहे ऐसा लगता कि कोई उसकी जगह कैसे भर सकेगा, लेकिन उसकी जगह लेने के लिए दो या तीन आ ज़रूर जाते। नया साल आते-आते फिर हमारा एक मजबूत संगठन खड़ा हो गया। फरवरी 1941 के संगठन की तरह व्यापक वह नहीं था, इसमें संदेह नहीं, लेकिन तो भी दुश्मन की चुनौती कबूल करने की उसमें पूरी ताकत थी, किस्मत का फैसला करने वाली लड़ाई की चुनौती। उस काम में हम सभी लोगों का हाथ था, लेकिन उसका मुख्य श्रेय हॉन्ज़ा जीका को जाता है।

हमारे प्रकाशन-कार्य के प्रमाण कमरों में, तहखानों में, साथियों की गुप्त फाइलों में मिलेंगे, इसलिए उसके बारे में यहाँ बात करना व्यर्थ है।

हमारे अखबार बहुत बिकते थे और बहुत पढ़े जाते थे; केवल पार्टी के सदस्य ही नहीं देश भर के लोग उन्हें पढ़ते थे। वे या तो प्रेस में छापे जाते थे या साइक्लोस्टाइल पर। कई 'टेक्नीकल केन्द्रों' से जो सब एक दूसरे से गुप्त और बिल्कुल अलग थे, वे काफी बड़ी संख्या में प्रकाशित होते। प्रकाशन का काम करने वाली कोई टोली यह नहीं जानती थी कि दूसरी टोली में कौन काम करता है या वह कहाँ काम करती है। यह भी कोई नहीं जानता था कि उनके आदेश आदि और लेख कहाँ से आते हैं। लड़ाई की परिस्थिति के अनुसार जितना तेज काम करना आदमी के लिए मुमकिन था, वे उतना तेज काम करते। उदाहरण के लिए हमने कामरेड स्तालिन का 23 फरवरी 1942 का फौजी हुक्मनामा छपा और 24 की शाम को अपने पाठकों के हाथ में पहुँचा दिया। छापने वाले साथियों ने बहुत अच्छा काम किया, वैसे ही जैसे डॉक्टरों की टेकनिकल टुकड़ी ने और फुक्स-लॉरेन्ज़ नाम की संस्था ने, जो अपना एक पर्चा निकालती थी जिसका नाम था 'दुनिया हिटलर के खिलाफ'। दूसरे पर्चों का

ज्यादातर मसाला मैं खुद तैयार करता था, जिसमें दूसरे खतरे में ना पड़ें। मेरे न रहने पर मेरी जगह लेने वाला बहुत पहले ही तैयार कर लिया गया था। मेरे पकड़े जाते ही उसने फौरन काम संभाल लिया, और अब भी कर रहा है।

काम के लिए जितना आसान से आसान ढाँचा हम खड़ा कर सकते थे वह हमने खड़ा किया, जिसमें किसी भी काम में कम से कम लोग फँसें। हमने खबरें लाने ले जाने के उस पेचीदा सिलसिले को खत्म कर दिया, जो फरवरी 1941 में हमारी केन्द्रीय समिति को बचा भी न सका, उल्टे विश्वासघात के खतरे को जिसने और बढ़ा दिया। इससे हम सब लोग निजी तौर पर तो ज्यादा खतरे में पड़ गये, लेकिन पार्टी की मशीन अधिक सुरक्षित हो गयी। भविष्य में अगर पार्टी को कोई गहरी चोट लगी भी तो वह उसे अपंग न कर सकेगी, जैसा कि फरवरी में हुआ।

इसलिए जब मैं पकड़ा गया तो केन्द्रीय समिति पूर्ववत् कार्य करती रही। मेरी जगह लेने वाला आदमी मेरी जगह पर पहुँच गया और मेरे निकटतम सहयोगियों को भी अन्तर नहीं पता चला।

हॉन्ज़ा जीका 27 मई 1942 की रात को पकड़ा गया। वह भी बिल्कुल अकस्मात्। वह हेड्रिक की हत्या के बाद की पहली रात थी, जब दुश्मन की सारी ताकतें तमाम प्राग में छापे मार रही थीं। वे स्ट्रेशोविस के मकान में, जहाँ जीका छुपकर रहता था, घुस गये। उसके कागज़-पत्र सब झूठे नाम से बने-बनाये अपनी जगह पर बिल्कुल दुरुस्त थे और अगर उसने वह हरकत न की होती तो मुमकिन था उन्हें कुछ पता भी न चलता। लेकिन चूँकि वह उस नेक परिवार के लोगों की जान खतरे में नहीं डालना चाहता था जिन्होंने उसे शरण दी थी, चुनाँचे उसने दूसरी मंज़िल की एक खिड़की से कूदकर भागने की कोशिश की। वह गिरा, उसकी रीढ़ की हड्डी में सख्त चोट आयी और उसे जेल के अस्पताल में ले जाया गया। अठारह दिन की तलाशी और फोटो की फाइलों के मिलान के बाद वे साबित कर सके कि वह कौन है और तब वे उसे उस मरती हुई हालत में यातनाएँ देने के लिए पेचेक बिल्डिंग ले गये। वहाँ उससे मेरी आखिरी मुलाकात हुई। जब वे लोग मुझे उसके पास ले गये, हम लोगों ने हाथ मिलाया और हवा में जैसे किरणें बिखेरता हुआ वह मुस्कुराया, अपनी खुली हुई, बेबाक, मुहब्बत की मुस्कराहट। और कहा :

‘अपनी फिक्र करना, जूलो!’

उसके मुँह से बस इतनी बात वे सुन सके। उसने एक शब्द और नहीं कहा। मुँह पर कुछ चोटें खाने के बाद वह बेहोश हो गया और दो घंटे में मर गया।

मुझे उसकी गिरफ्तारी की खबर 29 मई को लगी थी। बाहर के लोग से हमारे संपर्क के माध्यम अच्छी तरह काम कर रहे थे। उनके ज़रिये हमने अपने अगले कदम, जहाँ तक सम्भव था, तय कर लिये थे। बाद में हॉन्ज़ा चेर्नी ने भी उनकी ताईद की। वह हमारा आखिरी निश्चय था जो हमने संग-संग पार्टी की ओर से लिया था।

हॉन्ज़ा चेर्नी 1942 के ग्रीष्म में पकड़ा गया। लेकिन इस बार अकस्मात् नहीं, जान पोकोर्नी द्वारा भयंकर अनुशासन-भंग के कारण, जान पोकोर्नी जिसका सीधा सम्बन्ध हॉन्ज़ा से था। पोकोर्नी ने टोली के एक जिम्मेदार कार्यकर्ता की तरह आचरण नहीं किया। कई घंटे की यातनाओं के बाद-काफी कठोर यातनाएँ, इसमें सन्देह नहीं, मगर उसने क्या गुलगुले पाने की उम्मीद की थी-कई घंटों की यातनाओं के बाद वह घबरा उठा और उसने उनको उस मकान का पता बता दिया जहाँ वह चेर्नी से मिला था। वहाँ से उन्होंने हॉन्ज़ा का पता लगाना शुरू किया और कुछ दिन बाद वह गेस्टापो के हाथ आ गया।

जैसे ही वे उसे अन्दर ले आये, वे मुझे घसीटकर ले गये कि मैं उसे पहचानूँ।

‘तुम इसे जानते हो?’

‘नहीं, मैं नहीं जानता।’

न उसने ही माना कि वह मुझे जानता है। इसके बाद उसने किसी भी सवाल का जवाब देने से साफ इन्कार कर दिया। उसके पुराने जख्मों ने लम्बी यातना से उसकी रक्षा की। वह जल्दी ही बेहोश हो गया। वे लोग उसे दूसरी बार यातना के लिए ले जायें, इसके पहिले ही हमने उसे अच्छी तरह परिस्थिति समझा दी और उसने उसी के अनुसार कार्य किया।

वे उसके मुँह से कोई बात नहीं निकलवा सके। उन्होंने उसे बहुत दिन तक जेल में रक्खा, इस इंतज़ार में कि उन्हें कुछ और नयी गवाही मिले तो वे उसका मौन तोड़ें। मगर वे हॉन्ज़ा चेर्नी को तोड़ नहीं सके।

कैद ने उसमें कोई परिवर्तन नहीं किया। वह सदा साहसी, तत्पर और प्रसन्न रहा-दूसरों को भविष्य की ओर इशारा करता हुआ जब कि स्वयं उसके भविष्य का इशारा सीधे मौत की तरफ था।

अप्रैल के अन्त में वे उसे अचानक पांक्राट्स से ले गये। पता नहीं कहाँ। यहाँ पर लोगों के इस तरह से अचानक गायब हो जाने का मतलब बुरा होता है। मुमकिन है कि मेरा खयाल गलत हो, लेकिन मुझे अब उम्मीद नहीं है कि मैं फिर हॉन्ज़ा चेर्नी को देखूँगा।

हम सदा मौत को मानकर चलते थे। हम जानते थे कि गेस्टापो के हाथ में पड़ने का मतलब अन्त है। और हमने पकड़े जाने के बाद भी उसी के अनुसार आचरण किया, अपने अन्तःकरण में भी और दूसरों के संग अपने संबंधों में भी।

स्वयं मेरे नाटक का अन्त अब पास है। मैं वह अन्त नहीं लिख सकता क्योंकि मैं अभी नहीं जानता वह क्या होगा। और अब यह नाटक नहीं है, ज़िन्दगी है।

असलियत की ज़िन्दगी में तमाशा देखने वाले नहीं होते-तुम सब उसमें हिस्सा लेते हो। अब नाटक के अन्तिम अंक पर पर्दा उठता है। मैं तुम सब को प्यार करता था, दोस्तों! होशियार!

9 जून 1943

जूलियस फूचिक

भारत के स्वर्णयुग की रश्मियाँ

■ मुक्तिबोध

...पिछले अंक से जारी

गुप्त काल प्राचीन भारत का स्वर्णयुग क्यों कहा जाता है? केवल एक ही उत्तर है-वह यह कि शान्ति, सुरक्षा, सुख और समृद्धि के साथ-साथ, मानव की सृजनशील प्रतिभा ने अपने नये शिखर प्रस्तुत किये। चाहे गणित सिद्धांत हो चाहे दर्शन, चित्रकला हो चाहे व्यापार- एक बात सर्वत्र दिखायी देती थी। वह है नवीन के प्रति अनुरागपूर्ण उत्साह, और यदि वह सार्थक है तो उसे आत्मसात् करने का प्रयत्न। ब्राह्मण विद्वान बौद्धों की युक्तियाँ लेकर उन्हीं के द्वारा उन्हीं की विचारधारा का खंडन करते। ठीक इसी प्रकार, बौद्ध शास्त्री अपने नये तर्कशास्त्र का विकास करते जाते। जो भी नवीन ग्रहण किया जाता वह इतना आत्मसात् कर लिया जाता कि व्यक्तित्व के अभिन्न अंग के रूप में प्रस्तुत होता। किन्तु, यह नवीन विदेशी नवीन नहीं था। वह भारतीय व्यक्तित्व की उपज थी। शोध, अनुसन्धान, ज्ञान-व्यवस्था का निर्माण, उन दिनों की विशेषता थी- चाहे वह शल्य-चिकित्सा हो, चाहे धर्म। दूसरी विशेषता यह थी कि उस काल में धार्मिक कलह का नाम भी नहीं था। ईसा की चौथी-पाँचवी सदी की बात है यह।

हमारे विद्वान विचारक कितनी साहसपूर्ण मान्यताओं को जन्म देते थे, इसके हम दो-एक उदाहरण देंगे। ज्योतिर्विद ब्रह्मगुप्त ने यह सिद्धान्त स्थापित किया कि 'प्रकृति के नियम के अनुसार ही समस्त वस्तुएँ पृथ्वी पर गिरती हैं, क्योंकि पृथ्वी का स्वभाव वस्तुओं को आकर्षित करना और रखना है।' क्या उक्त सिद्धान्त मूलतः पाश्चात्य वैज्ञानिक न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण नियम के समान नहीं है? यूरोप जब पृथ्वी को चपटी मान रहा था, हमारे यहाँ वह गोल मानी जाती थी। वह अपने अक्ष पर घूमती भी थी। उसका व्यास भी निकाला जा चुका था।

शास्त्र : भारत अपने प्रसिद्ध गणितशास्त्री और ज्योतिर्विद आर्यभट्ट को कभी भी नहीं भूल सकता। आर्यभट्ट ने दशमलव पद्धति का उपयोग किया। वर्गमूल और घनमूल निकालने के तरीके खोज निकाले। ज्योतिर्विदों में वराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त का नाम भी अमर है।

साहित्य : कालिदास का नाम जो नहीं जानता, उसे अशिक्षित समझा जायेगा। वह इसी काल में हुआ था। वह, संभवतः चंद्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य के दरबार में था। उसके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं : 'अभिज्ञान शाकुन्तल' और 'मालविकाग्निमित्र'। ये नाटक हैं- उसने दूसरे भी नाटक लिखे। काव्यों में उसका

'मेघदूत' और 'रघुवंश' सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। उसकी संस्कृत भाषा प्रांजल, सरल और कोमल है।

कवि भारवि कृत 'किरातार्जुनीय' काव्य, विशाखदत्त कृत 'मुद्राराक्षस' नामक नाटक, सुबन्धु कृत 'वासवदत्ता', अमरसिंह कृत 'अमरकोष' (यह एक बृहद शब्दकोष है), 'पंचतन्त्र' तथा 'हितोपदेश'-इसी युग की रचनाएँ हैं। इनके सिवाय, और भी कई हैं, उदाहरणतः दण्डीकृत 'दशकुमार चरित'।

'पंचतन्त्र' और 'हितोपदेश', जो किसी विष्णुशर्मा द्वारा लिखे गए थे, बहुत लोकप्रिय ग्रन्थ थे।

गुप्त सम्राट संस्कृत भाषा के भक्त थे। उन्होंने उसे अत्याधिक प्रोत्साहन दिया। नतीजा यह हुआ कि प्राकृत भाषाएँ अधिक उन्नति न कर सकीं, यद्यपि थोड़ी-बहुत रचना उनमें भी होती रही।

कला : मूर्ति कला में जिसे गान्धार शैली कहा जाता है, अब उसका पूरा लोप हो गया। उसके स्थान पर अब उसमें पूर्णतः भारतीय शैली का आविर्भाव हुआ। विष्णु, कृष्ण, देवी के मुखों पर जो तेज और सौन्दर्य है, उसी से पता चल जाता है कि यह एकदम नयी शैली है, जो पूर्णतः भारतीय है। देवी-देवताओं की जो मूर्तियाँ इस काल में बनीं, उनमें भारतीय कला-शैली स्पष्टतः परिलक्षित होती है। इस काल में, चित्रकला ने विशेष उत्कर्ष किया। अजन्ता और एलोरा आदि गुफा-मन्दिरों में जो चित्र आज भी सारे कला-प्रेमी जगत का ध्यान अपनी ओर खींचे हुए हैं, वे गुप्त काल में ही बने थे। गुप्त सम्राट संगीत के बहुत प्रेमी थे। समुद्रगुप्त तो विशेषतः संगीत का विज्ञ था। गुप्त काल में, इस कला की भी उल्लेखनीय उन्नति हुई। भवन-निर्माण कला ने भी उत्कर्ष किया।

व्यापार-व्यवसाय : गुप्त काल में विदेशों से भारत का संबंध बराबर बना रहा। पश्चिम में रोमन साम्राज्य से और पूर्व में पूर्वी द्वीप समूह से खूब व्यापार होता था। भारत के विभिन्न स्थानों में रोमन मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं, इससे यही सूचित होता है।

संस्कृति का प्रसार : भारतीय संस्कृति तो अशोक के काल से ही विदेशों में फैल रही थी। गुप्त काल तक आते-आते अब वह मध्य एशिया से लेकर चीन तक और दक्षिण-पूर्वी एशिया में फैल गयी। दक्षिण-पूर्वी एशिया में, पहले जो भारतीय उपनिवेश थे, अब वे साम्राज्यों का रूप धारण करने लगे। बौद्ध मत के अतिरिक्त अब वहाँ वैष्णव और शैव मत भी फैलने लगा। वहाँ के विहारों और मन्दिरों के निर्माण में भारतीय कला की छाया

दिखायी देने लगी। जावा, सुमात्रा, हिन्दचीन, बोरिनियो, अनाम आदि देशों में जो सांस्कृतिक प्रसार हुआ, उसमें दक्षिण भारतीय राज्यों का भी हाथ था।

धार्मिक अवस्था : इस युग में कहीं भी धार्मिक कलह नहीं थी। गुप्त सम्राट वैष्णव थे। किन्तु, वे अन्य धर्मों के प्रति बहुत उदार थे। उनके राज-कर्मचारियों में बहुत से शैव और बौद्ध थे। किन्तु राजाश्रय केवल ब्राह्मण धर्म को ही था।

एक ही परिवार के सदस्य कभी-कभी भिन्न धर्मानुयायी होते। राजा शान्तिमूल स्वयं वैदिक (धर्म) को मानने वाला था किन्तु उसकी बहुएं, बहनें और लड़कियां बौद्ध धर्म को मानती थीं। गुप्त वंश में भी कई सम्राट् बौद्ध हुए। सम्राट् कुमारगुप्त के दो लड़कों में से एक पुरगुप्त बौद्ध था, स्कन्दगुप्त वैष्णव था। परवर्ती मगधराज बेनगुप्त स्वयं वैष्णव था, किन्तु उसने महायान सम्प्रदाय के वैवर्तक संघ को आर्थिक सहायता दी थी। वैष्णव गुप्त सम्राटों के दान से नालन्दा विश्वविद्यालय चलता था, यह विश्वविद्यालय बौद्धों का था।

यद्यपि आपेक्षिक रूप से बौद्ध धर्म सिकुड़ गया था, फिर भी कौशाम्बी, सारनाथ, मथुरा, काँची (दक्षिण भारत), वलभी (सौराष्ट्र) में बड़े-बड़े बौद्ध विहार थे, जहां हजारों की संख्या में बौद्ध भिक्षु रहते। सम्राट चंद्रगुप्त द्वितीय परम भागवत थे, किंतु उन्होंने अपने पुत्रों की शिक्षा के लिए वसुबन्धु नामक एक महान् बौद्ध आचार्य को नियुक्त किया था। ये वसुबन्धु वही थे, जिन्होंने बौद्धों के पृथक् तर्कशास्त्र का विकास किया। उनके अतिरिक्त, असंग, बुद्धघोष, दिडनाग, धर्मकीर्ति आदि प्रसिद्ध आचार्य हुए, जिन्होंने बौद्ध धर्म की कीर्ति को बढ़ाया।

दार्शनिक उत्थान : इस युग में, चमत्कारपूर्ण रूप से, एक के बाद एक महान् दार्शनिक होते चले गये। सब ओर, विचार-विनिमय, स्वतंत्र चिंतन, शास्त्रार्थ और साहसपूर्ण निष्कर्षों का वातावरण था। उस युग में दार्शनिक विषयों का गहन मन्थन हुआ।

सांख्य दर्शन ने विशेष विकास किया। ईसा की चौथी सदी में, ईश्वरकृष्ण नामक पंडित ने 'सांख्यकारिका' लिखी। न्यायसूत्रों की मीमांसा करते हुए कात्यायन ने एक भाग लिखा जिसमें बौद्धों के योगाचार और माध्यमिक नामक दो समुदायों की दार्शनिक युक्तियों का खंडन किया गया। उसी प्रकार वैशेषिक दर्शन के प्राचीन सूत्रों की व्याख्या करते हुए 'पदार्थ-धर्म-संग्रह' नामक एक महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखा गया।

बौद्ध संप्रदाय तब तक न केवल महायान और हीनयान नामक दो संप्रदायों में बंट गया था, वरन् दर्शन के क्षेत्र में भी अनेक संप्रदाय कायम हो गये थे। हीनयान संप्रदाय की उन्नति

में बुद्धघोष नामक विद्वान का बहुत बड़ा हाथ था। महायान संप्रदाय के दो भाग हो गये थे-माध्यमिक और योगाचार। आर्यदेव ने, जो नागार्जुन का शिष्य था, 'चतुःशतक' नामक एक प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ लिखा।

योगाचार संप्रदाय के विकास में असंग का बहुत बड़ा हाथ था। असंग प्रकाण्ड पंडित था। भारतीय दर्शनशास्त्र का उसे उत्तम ज्ञान था। असंग और उसके भाई वसुबन्धु ने बौद्ध दर्शनशास्त्र का अत्यधिक विकास किया। यह वही वसुबन्धु था, जिसको चंद्रगुप्त ने अपने राजकुमारों के अध्ययन के लिए शिक्षक नियुक्त किया था। आचार्य असंग, वसुबन्धु, दिडनाग आदि महान् बौद्ध विद्वान हुए, जिन्होंने गुप्त युग के बौद्धिक उत्कर्ष को ऐतिहासिक बना दिया। खेद है कि दिडनाग के ग्रन्थ प्राप्त नहीं हो पाते, केवल उनके कुछ चीनी और तिब्बती अनुवाद मिलते हैं।

गुप्त काल के कुछ देवालय अभी भी मिलते हैं। ग्वालियर के समीप पद्मावती स्थान पर यक्ष का मन्दिर व राजगिर में मणिनाग का मंदिर। विभिन्न अवतारों में से वाराह और कृष्ण अधिक लोकप्रिय थे।

दक्षिण में पुण्ड्रवर्धन और ऐरन में वाराह के मंदिर हैं। गुप्त काल के पूर्व, सूर्य का एक मंदिर सिर्फ मुल्तान में था। अब सूर्य मंदिर ग्वालियर, इन्दौर व बघेलखण्ड में भी बनाये गये। अनेक स्थानों पर शिव के मन्दिर भी थे।

इस युग में शैव धर्म का भी अभ्युत्थान हुआ। वैसे भी, वाकाटक तथा मारशिव नागवंशी नरेश शैव था। हूण राजा मिहिरगुप्त शैव बन गया था। सब धर्म, एक-दूसरे से शास्त्रार्थ और स्पर्धा करते हुए भी, एक-दूसरे से सीखते थे।

राजनीतिक व्यवस्था : गुप्त सम्राट पूर्वकालीन राजाओं की भांति, निरंकुश स्वेच्छाचारी शासक थे। ईसा की तीसरी सदी बाद, अब उनमें 'देवता के गुण' भी पाये जाने लगे। उनकी उपाधियां लम्बी-चौड़ी होने लगीं। राजतन्त्र स्वेच्छाचारी होने पर भी, समाज की विभिन्न संस्थाओं-संगठनों को उसी प्रकार स्वायत्त शासन प्राप्त था, जैसा कि पहले से चला आया था। राजा प्रजावत्सल थे। जनता सुखी थी। प्रशासन तन्त्र लम्बा-चौड़ा हो गया था। राज-कर्मचारियों के नये पद-नाम निकल आये थे। 'महाबलिधिकृत' (मुख्य सेनाध्यक्ष), 'महादण्डनायक' (सुरक्षा व्यवस्थापक), 'सन्धिविग्रहिक' (शान्ति तथा युद्ध संबंधी निर्णय करने वाला), इत्यादि। साम्राज्य में सर्वत्र शान्ति तथा सुख विद्यमान था।

...क्रमशः जारी

साभार : मुक्तिबोध रचनावली, भाग 6

isd इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस,

62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067

टेलीफोन 011-26177904, 46025219 टेलीफैक्स 011-26177904,

ईमेल : notowar.isd@gmail.com / notowar@rediffmail.com / वेबसाइट : isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए